ध्यान-माला

साधन-पथ पर अपेक्षित गुणोंके दैनिक अभ्यासके लिए

चुने हुए वाक्य

श्रीमती एनी बेसेण्ट

की रचनाओंमें से

श्री ई० जी० कूपर

द्वारा संकलित

हिन्दीकार—रामचन्द्र शुक्ल

आनन्द प्रकाशन लिमिटेड, कमच्छा, बनारस १.



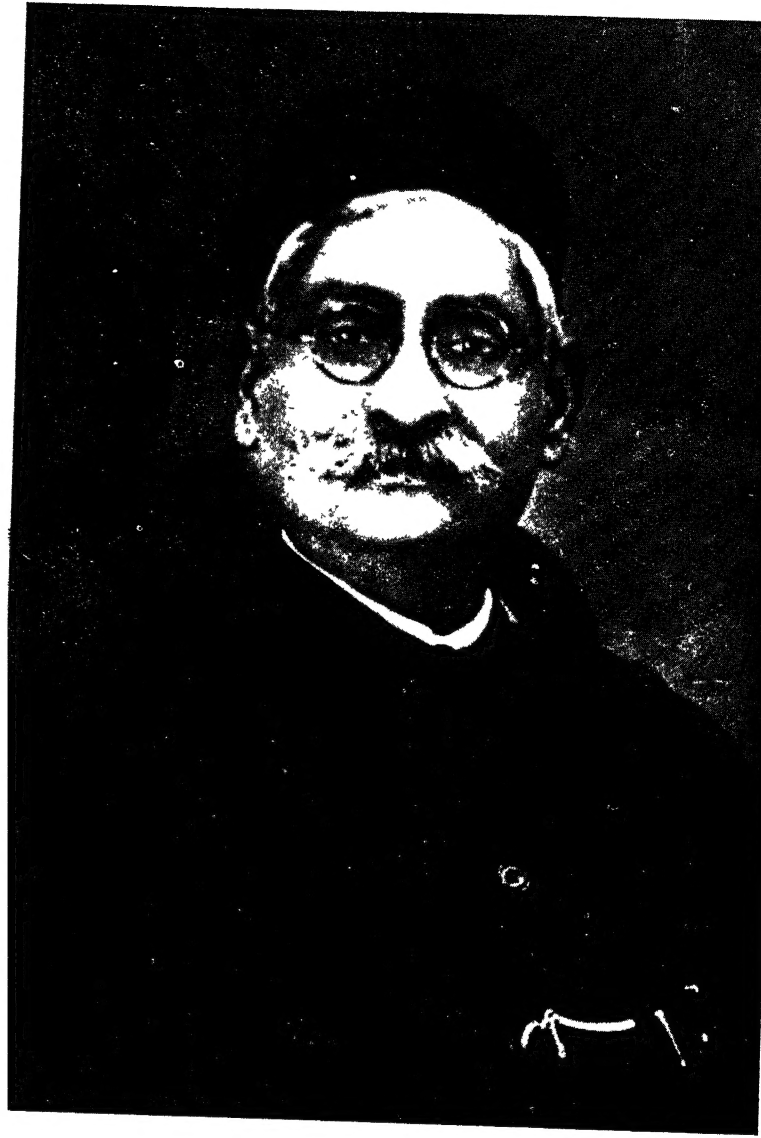
ध्यान-मुद्रामे भगवती बेसण्ट

प्रकाशक
आनंद प्रकाशन लिमिटेड
कमच्छा, बनारस १
(थिओसॉफिकल सोसायटी)

Accession No. 050554
Shantarakshita Library
Tibetan Institute-Sarnath

प्रथम हिंदी संस्करण
जून १९५५
मूल्य

मुद्रक
प्यारेलाल भार्गव
राजा प्रिंटिंग प्रेस, कमच्छा,
बनारस १



स्वर्गीय डा० प्यारेलाल श्रीवास्तव

देवी एनीबेसएटके अनन्य अनुयायी

स्वर्गीय डॉक्टर प्यारेलाल श्रीवास्तव

की पुण्य स्मृतिमें

उनके पुत्रोंकी भेंट

दो शब्द

देवी एनीबेसण्टने अपनी थिओसॉफिकल सोसायटीकी सक्रिय सदस्यताके दिनोंमें अनेक ग्रंथ लिखे और अगणित व्याख्यान दिये। इन ग्रंथों और व्याख्यानोंमें आध्यात्मिक मार्गके पथिकके लिए बहुमूल्य वाक्य-रत्न बिखरे पड़े हैं। सभी साधकोंको सारे ग्रंथ न तो उपलब्ध ही होते हैं और न उपलब्ध होने पर भी उन्हें उनके अनुशीलनका अवकाश ही मिल पाता है। ऐसे वाक्य-रत्नोंको सर्व साधारणको सुलभ करनेके लिए श्री ई० जी० कूपर ने ऐसे अनेक वाक्य पुस्तकोंसे एकत्रित किये और उन्हें महीनेवार एक एक शीर्षक पर सजाया। बारह गुणोंके शीर्षक देकर बारह महीनोंके प्रत्येक दिनके लिए एक वाक्य रख दिया। यह पुस्तक अडयारसे 'डेली मेडिटेशन्स' (दैनिक ध्यान) के नामसे प्रकाशित हुई और अंग्रेजीमें अब तक इसके तीन संस्करण हो चुके हैं। हिंदीमें देवी बेसण्टके बहुत थोड़े ही ग्रंथ छप पाये हैं, इसलिए इस संग्रहका हिंदी रूपांतर प्रकाशित करना लाभदायक समझा गया।

लखनऊके आदरणीय थिऑसोफिस्ट स्वर्गीय डाक्टर प्यारे लाल श्रीवास्तव देवी बेसण्टके अनन्य भक्त और एक सेवानिष्ठ साधक थे। उनके तीनों पुत्र तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुखरानी देवीजी भी उन्हींके समान श्रद्धालु थिऑसोफिस्ट हैं। इसी श्रीवास्तव परिवारकी दानशीलताके फल-स्वरूप यह पुस्तक

प्रकाशित हो रही है। डॉक्टर ब्रजेन्द्र विहारी, उनके बंधु तथा उनकी माताजीके हम आभारी हैं।

ध्यानके अभ्यासके संबंधमें हम श्रीमती क्लारा कॉडकी एक छोटी पुस्तक 'ध्यान-अभ्यास और परिणाम' प्रकाशित कर चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तकके पाठकों और विशेष कर साधना-प्रिय पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि इस पुस्तकका अभ्यास आरंभ करनेसे पहिले कुमारी क्लॉडकी वह पुस्तक ध्यान पूर्वक अवश्य पढ़ लें।

—प्रकाशक

विषय सूची

साधन-पथ

जनवरी | पहिला अध्याय

१. शान्ति स्थल तक पहुँचनेके पथ पर चलनेका आरंभ इस प्रकार किया जाना चाहिए कि अपनी चेतनाका शुद्धात्मासे एकीकरण करनेका प्रयास किया जाय, और उसीकी दृष्टिसे देखा जाय, उसीकी बुद्धिसे प्रत्येक निर्णय किया जाय।

२. अनेक जन्मोंके बाद जब मनुष्य साधन-पथके प्रवेश द्वार पर पहुँचता है, तब गुरुदेव स्वयं प्रकट होकर उसे अपने संरक्षणमें ले लेते हैं और उसे शिष्य-पथ पर चलनेमें सहायता तथा वे अंतिम उपदेश उसको देते हैं, जिनसे उसे आत्म-दर्शन हो सके।

३. एक साधन-पथ है, जिस पर चलकर हम दीक्षा तक पहुँचते हैं और इसी दीक्षा द्वारा फिर पूर्णत्वकी प्राप्ति होती है।

४. इस साधन-पथपर पहुँचनेका मार्ग मानव-जीवनमें ही होता है और जो कुछ जीवनकी प्रगति और विकासके लिए

卐

आवश्यक है वह सब साधन-पथ पर अग्रसर होनेके लिए भी सहायक है।

५. साधन-पथ पर चलनेका प्रथम पग इन थोड़े शब्दोंमें ही निहित है: 'मानवकी सेवा'। बिना इसके किसी प्रकारकी प्रगति संभव नहीं।

६. यद्यपि बाह्य-दृष्टिसे यह साधन-पथ त्यागका पथ-सा दीखता है, परन्तु दूसरी दृष्टिसे यह त्याग अधिकाधिक आनंद, शांति और सुखका साधन बन जाता है; क्योंकि इस त्यागमें सुख छोड़ कर दुखको अपनाना नहीं होता, वरन् क्षणिक सुखको छोड़कर शाश्वत आनंदकी प्राप्ति होती है।

७. ज्यों-ज्यों जीवात्मा इस पथ पर अग्रसर होता जाता है, उसका आनंद और भी गहरा होता जाता है। हम आरंभमें ही देख चुके हैं कि दुःखका मूल अविद्या है। यह सच है कि विद्याकी प्राप्तिके पहिले बहुधा कटु पीड़ा का अनुभव होता है, परंतु यह पीड़ा हमारी अविद्या, हमारे अंधेपनका ही परिणाम है।

८. अज्ञानांधकारमें डूबे हुए संसार और उसकी मायामें फँसे हुए तड़पते मानवको देखकर, मानवजातिके भावी त्राणकर्ता पुरुषोंका हृदय करुणासे द्रवीभूत हो जाता



है, वे संसारकी असीम पीड़ाका अनुभव करते हैं और इसीलिए संसारके कल्याणार्थ मोक्ष पथकी खोज करते हैं।

९. जब हृदयके कपाट खुल जाते हैं और अंतर्दृष्टि निर्मल हो जाती है, तब इस कार्यकी गुरुताका विशेष अनुभव होता है। अज्ञानावस्थामें यह कार्य उतना कठिन नहीं जान पड़ता। जो पथपर चलने लगता है, उसे पथका कार्य अधिक कठिन प्रतीत होता है—प्रवेश-द्वारसे बाहर वाले लोगोंको इस कठिनाईका उतना अनुभव नहीं होता।

१०. मानव अपने आप ही कष्ट सहते हैं, उन्हें किसी और ने बांध नहीं रखा है। जब यह बात साधकके समझमें आ जाती है, तब उसकी दृष्टिमें सारा संसार ही बदल जाता है, साधन पथके कठिनाईका रूप ही दूसरा हो जाता है।

११. जब पहली ड्योढ़ी पार कर लेता है, तो साधकको एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि उसे वह चेतना प्राप्त हो जाती है, जो फिर टूटेगी नहीं, जिस पर मृत्युका कोई प्रभाव न पड़ेगा और पुनः जन्म लेनेसे उस चेतना पर विस्मृतिका पर्दा न पड़ सकेगा।

१२. दो अत्यन्त दारुण कष्ट, जिनका अनुभव सभीको हुआ होगा, वियोग और मृत्यु हैं। किंतु जो ड्योढ़ी पार कर

चुकता है उसके लिए अब वियोग और मृत्युका वह अर्थ नहीं रह जाता जो बाह्य जगत्‌में रहने पर था।

१३. जो लोग मंदिरकी ड्योढ़ीके उस पार जा चुके हैं, उन्हें संसारमें कोई भी सुख या दुखकी घटना फिर पीछे लौटकर देखनेको आकृष्ट नहीं करती; बाह्य संसारको तो वे पीछे छोड़ चुकते हैं।

१४. क्योंकि जो पथ हमारे सामने है उसके कष्ट संसारके सुखोंसे भी अधिक सुन्दर हैं और उसकी यातनाएँ संसारके सुंदरसे सुंदर फलोंसे भी अधिक मोहक हैं।

१५. जब मनुष्यको भगवद्भक्तिका रस आ जाता है, तब वह पापसे मुँह मोड़कर लक्ष्यकी ओर उन्मुख होता है। उसके पैर अब भी लड़खड़ा सकते हैं, वह पथसे भटक भी सकता है, गिर भी सकता है, लेकिन अब उसका मुख लक्ष्यकी ओर है और वह अपने गंतव्य स्थानकी ओर अग्रसर हो रहा है। भक्तिका प्रबल वेग ही उसे कर्तव्यशील बना देगा।

१६. हमें अपने स्वभावको, अपनी प्रकृतिको समझनेका प्रयास करना चाहिए; उसे समझ लेने पर हमें वह पथ सुझाई देगा जिस पर चलकर हमें आत्म-दर्शन होगा।



१७. जब हम अपने बंधुको कुपथगामी कहकर उसकी निंदा और तिरस्कार करते हैं, तो क्या हमारी दृष्टि केवल बाह्य पर नहीं रहती, क्या हम अभ्यंतरकी अवहेलना नहीं करते ? उसका हृदिस्थित आत्मा अवश्य जानता होगा कि यह तथाकथित कुपथ ही उसे वह अनुभव प्रदान करेगा जिसकी उसमें कमी है। कदाचित् जब तक वह अनुभव उसे नहीं होता, वह बंधनमें पड़ा है, स्वाधीन नहीं है।

१८. यदि तुम्हारे आत्माकी आवाज़ सुनाई दे, तो बुद्धिके प्रमाणकी राह न देखो। उस दैवीवाणीका विश्वास करो, दैवी प्रेरणाका अनुसरण करो। ऋषियों और सिद्ध पुरुषोंके दिखाये, शिष्यों और साधकोंके अनुभूत पथका अनुसरण करो। आज भी ऐसे लोग मौजूद हैं जिन्होंने उस पथका अनुसरण किया है और जानते हैं कि वह हमें लक्ष्य तक ले जाता है।

१९. हम चाहे बड़ी तेजीसे ऊँचे चढ़ रहे हों और चाहे धीरे-धीरे, सभीके लिए समय है और सभीके पास पर्याप्त शक्ति है, क्योंकि सभीके हृदयमें भगवान उपस्थित हैं। हमारे अंतिम लक्ष्यको कोई बदल नहीं सकता और भगवत्-संकल्पको कोई या कुछ भी विफल नहीं कर सकता।

२०. औरोंकी तरह साधकको भगवत्-संकल्पके अनुकूल

या उसके विपरीत पथ स्वीकार करनेमें कोई हिच-किचाहट न होगी; वह तो अवश्य ही भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल ही कार्य करेगा, किसी प्रकारकी हिच-किचाहटको तो वह इस पथपर बहुत पीछे छोड़ आया है।

२१. जब एक बार उच्चपथके दर्शन हो गये, तो फिर किसी निचले पथपर चलनेका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। मैं यह नहीं कहती कि साधकसे भूल न होगी, उसके निर्णयमें भूल हो सकती है, परन्तु यह अवश्य है कि जब एक बार वह उचित बातको समझ लेगा तो अनिवार्य रीतिसे उसके अनुसार आचरण भी करेगा।

२२. साधन-पथका अभ्यास, यह ज्ञान कि महात्मा गण इस पथपर चल चुके हैं और हम तुम भी इस पथ पर चल सकते हैं; यही वह मानवताका शिखर है, जहाँ मानव ईश्वरका रूप प्राप्त करता है। यह ज्ञान ही तुम्हारे आध्यात्मिक स्वभाव और संभावनाओंका ज्ञान है और इसी प्रकार तुम उस उद्देश्यको पूरा कर सकोगे जिसके लिए तुम जगत्‌में आये हो।

२३. साधन-पथ पर चलने और दीक्षा प्राप्त करनेके लिए किन गुणोंकी अपेक्षा है? प्रथम, अपनेमें क्षणिक और शाश्वतके भेदका ज्ञान उत्पन्न करना, सत् और असत्, आध्यात्मिक और पार्थिवमें विवेककर सकना। यह विवेक



अपने आस-पासके लोगों और स्वयं अपने भीतरकी वस्तुओं तथा जीवनकी समस्त परिस्थितियों तथा निर्णयोंमें होना चाहिए।

२४. जब गुरुदेव मानवजातिमें शिष्यकी शोध करते हैं, तो उन्हें प्रेमपूर्ण हृदयकी अपेक्षा होती है, मानव-स्वार्थपरताके अंधकारमें, मानवकी चेष्टाओंकी अँधेरी रातमें, प्रेमपूर्ण हृदय दीपककी ज्योतिके समान चमकता दिखाई पड़ता है। गुरुदेव उसे देखकर जान लेते हैं कि भावी शिष्य कहाँ है। इस साधन पथकी ओर उन्मुख होनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

२५. मै तुम्हें वह चिन्ह बताती हूँ जिससे तुम साधन पथकी ओर अग्रसर होनेवाले व्यक्तिको पहचान सकोगे। दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा ही उसके जीवनकी मुख्य पहचान है, दूसरोंके हितके लिए अपना सब कुछ बलिदान करनेकी तत्परता, अपनी समझ भर, सत्य पक्षके लिए सांसारिक मनुष्योंकी प्रियसे प्रिय वस्तुओंका त्याग, यही उस प्रकारके जीवनकी पहचान है।

२६. साधन-पथका प्रथम लक्ष्य है ईश्वरसे एकात्म्यकी प्राप्ति, केवल प्रार्थना और आत्मार्पण द्वारा ईश्वर-प्रेममें मग्न होना मात्र नहीं, किंतु सचेतन रूपसे ईश्वरके साथ तन्मयता, जिसमें मानवकी चेतना श्रेणी-श्रेणीसे बढ़ती

हुई सर्वोपरि चेतनासे एकीकृत हो जाती है और साधक जीवात्मा विश्वजीवनसे अपने एकात्म-भावका अनुभव करने लगता है।

२७. गुरुदेव भी एक दिव्यस्वरूप-प्राप्त मनुष्य ही हैं, वे हमारे ज्येष्ठ बंधु हैं, वे हमारे साथ मानवताके भागीदार हैं, परन्तु विकास प्राप्त करके वे महान् हो गये हैं और इसलिए हमारे ज्येष्ठ बन्धु हैं। साधन-पथकी यात्रा करके वे आगे बढ़ चुके हैं; उन्होंने दीक्षाके बाद दीक्षा ली है और इस प्रकार उनकी चेतना अत्यन्त विस्तृत हो गयी है; वे न केवल इस जगत्‌को पूर्ण रूपसे जानते हैं, वरन् जिन-जिन जगतोंमें आत्माका निवास है, उन सब लोकोंसे वे अभिज्ञ हैं।

२८. यदि तुम्हारे भीतर देवत्वका अंकुर न होता, तो तुम सचेतन रीतिसे ईश्वरत्वको विकसित न कर सकते; परन्तु प्रत्येक हृदयमें ईश्वर निवास करता है इसलिए यह एकीकरण संभव है, और साधन-पथके अभ्यासका लक्ष्य ही यह है कि ईश्वरत्वसे सचेतन एकीकरण हो जाय।

२९. जिसके जीवनमें संसारके सभी पुरस्कार और सुख आदर्शकी उपासनाके समक्ष क्षुद्र हो गये हैं, जिसका हृदय उस आदर्शकी शोधमें ही मग्न है, वह मनुष्य

साधन-पथके समीप आ रहा है। यह एकाग्रता ही इसका चिन्ह है।

३०. वाणीका संयम साधन-पथके पथिकके लिए परमावश्यक है; कठोर और निर्मम शब्द, अथवा बिना विचारे कोई बात, सेवाके लिए समर्पित हुए मुखसे निकलनी ही नहीं चाहिए, उसे तो शत्रुको भी कष्ट नहीं देना है, इस प्रेमके राज्यमें पर-पीड़ाके लिए स्थान ही नहीं है।

३१. साधन-पथपर प्रत्येक पग सदाके लिए उठाया जाता है। उसपर प्राप्त होनेवाला प्रत्येक कष्ट सहर्ष स्वीकार किया जाता है, क्योंकि उस कष्टसे कुछ शिक्षा ही मिलती है। साधनपथ चलनेसे अधिक ज्योतिर्मय जान पड़ता है; ज्यों-ज्यों अविद्या कम होती जाती है और दुर्बलताएँ दूर होती जाती हैं, त्यों-त्यों शांति मिलती जाती है। पार्थिव जगत्‌के कम्पन विघ्न नहीं उपस्थित कर पाते और अविचल शांति समीप आती जान पड़ती है।

सेवा

१. जो कुछ समस्तके लिए किया जाता है, केवल किसी अंशके लिए नहीं, जो कुछ ईश्वरमय होकर ईश्वरका कार्य समझकर किया जाता है, वही कर्म मनुष्यको बाँधता नहीं, क्योंकि यह यज्ञकर्म है और बंधनमें नहीं डालता, इसी प्रकारके कार्यको हम सेवा कहते हैं।

२. दूसरेके लिए प्रेमसे प्रेरित होकर जो कुछ किया जाता है, वही सेवा है। वेतनभोगी सेवा सच्ची सेवा नहीं है।

३. यदि तुम आध्यात्मिक जीवनका अभ्यास करना चाहते हो, तो ऊँचे चढ़नेके साथ-साथ नीचे भी उतरो। संत के ही साथ नहीं, पापीके साथ भी अपनी एकता अनुभव करो। सभीके हृदयमें एक ही जीवन व्याप्त है, इसीमें हमारा ईश्वरत्व निहित है, उसकी ईश्वरतामें अंतर नहीं है, अंतर केवल व्यक्त रूपकी श्रेणीमें है।

४. जिस किसीसे हम मिलते हैं, उसके प्रति हमारा कुछ



कर्तव्य होता है। जो कोई हमारे जीवनकी परिधिके भीतर आ जाता है, उसीके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य है। संसारमें आकस्मिकता है ही नहीं, मनुष्य-जीवनमें कोई भी घटना अकारण नहीं घटती।

५. एक दूसरेकी सहायता, एक दूसरेसे प्रेम, एक दूसरेकी उन्नति करनेके अतिरिक्त और प्रयोजन ही हमारे अस्तित्व का क्या है ?

६. निरीक्षण करो कि दूसरों पर तुम्हारा क्या प्रभाव पड़ता है। इस बातका भी ध्यान रखो कि तुम्हारी वाणीका औरों पर किस प्रकारका प्रभाव पड़ता है। तुम्हारी वाणी कोमल होनी चाहिए, तुम्हारे शब्द प्रिय होने चाहिए, निन्दा, अपवाद, कटुवचन, दूसरोंपर दुष्ट उद्देश्यका आरोप—इन सबसे तुम्हें अपनी जिह्वाको अपवित्र न करना चाहिए, आध्यात्मिक जीवनकी आकांक्षा रखनेवालेको इनसे दूर रहना चाहिए।

७. दूसरेके दुःखोंकी अनुभूति स्वयं अपने दुःखोंके समान होनी चाहिए; दूसरोंकी पीड़ाका अनुभव ठीक उसी प्रकार होना चाहिए, जैसे अपने हृदयकी पीड़ाका।

८. जहाँ कहीं सेवाकी उत्कट अभिलाषा है, जहाँ कहीं दूसरेके सुखके लिए सर्वस्व - त्यागकी भावना है, जहाँ

कहीं प्रतिक्षण किस प्रकार सेवा की जाय, किसकी सेवा की जाय, इसीकी चिंता है.. ....वहीं भगवानकी झलक दिखाई दे रही है, उनका रूप व्यक्त हो रहा है, क्योंकि भगवान्‌ने आत्म-महाबलिदान करके सृष्टिकी रचना की है और मानवके हितके लिए उनका यह यज्ञ सतत जारी है।

९. सेवाके लिए अपनेको उत्सर्ग कर दो, कुछ भी बचा न रखो; जहाँ कहीं सहायता देना संभव हो, सहायता दो; जहाँ कार्य करनेकी आवश्यकता हो, सपरिश्रम कार्य करो; किसी ऊँचे आदर्शके लिए अपनेको उत्सर्ग करदो।

१०. यह भली भाँति हृदयंगम कर लो कि सर्वथा निःस्वार्थ सेवा ही अपेक्षित है; ऐसी सेवा सब कुछ देकर भी प्रतिदान नहीं चाहती।

११. पीड़ितके समीप जाकर उसकी पीड़ाका निवारण करो, किंतु उसकी पीड़ाका निवारण करके भी अपने हृदयमें उस पीड़ाकी अनुभूति करो, और जब तक उस पीड़ा का मूल कारण नष्ट न हो जाय, इस अनुभूतिको बनी रहने दो। यही एकात्म्यका, भेदविहीनताका प्रथम चरण है। संसारके सुखदुःख, कष्ट और आनंदसे अपना एकात्म्य कर लो, प्रत्येक मानवके कष्टको अपना कष्ट बना लो, प्रत्येककी पीड़ा तुम्हारी अपनी पीड़ा बन जाय, प्रत्येकका आनंद तुम्हारा अपना आनंद।



१२. किसी भी कार्यक्रममें, किसी आन्दोलनमें सम्मिलित होनेसे पहिले सोचो, क्या यह विधायक कार्य है? यदि यह विधायक नहीं है, केवल विनाशकारी है, तो उससे दूर रहो। क्या वह प्रेमसे प्रेरित है? यदि उसके पीछे घृणा और द्वेषकी प्रेरणा है, तो उसमें सम्मिलित न हो। क्या इसका झुकाव बन्धुत्वकी ओर है, असमानताको घटानेकी ओर है, दायित्व-बुद्धिको बढ़ानेकी ओर है? यदि हाँ, तो उसमें योग दो, नहीं तो उससे दूर ही रहो।

१३. विकास-पथपर जो जीवजन्तु हमसे पीछे हैं, संसारमें हम उनके शिक्षक, सहायक और पथप्रदर्शकके स्थान पर हैं। जब कभी हम उनके प्रति क्रूरता, निर्दयता या शठताका व्यवहार करते हैं, तो हम उनके भीतर बैठे हुए भगवानके प्रति अपराधी सिद्ध होते हैं।

१४. यदि हम अपनी बुद्धिके अनुसार अत्यंत विवेकसे कार्य करते हैं, यदि मानवके हितके लिए हम अपनी शक्तिभर निःस्वार्थ प्रयत्न करते हैं, तो हमे फलकी इच्छा नहीं रहती, हम तो दैवी शक्तियोंको हमारे द्वारा कार्य करनेकी पूरी छूट दे देते हैं, और फिर हमारे कार्य पर हमारे अज्ञान और हमारी दुर्बलताओंका प्रभाव नही पड़ता।

१५. हमें यह क्षण भरके लिए भी न भूलना चाहिए कि



जो कोई हमारे समीप किसी समय हो, उस समयके लिए वही हमारी सेवाका अधिकारी है—गुरुदेवने इसी लिए उसे हमारे पास भेजा है। यदि अपनी असावधानीसे, अपने उतावलेपनसे, अपनी विरक्तिसे हम उसकी सेवा नहीं कर पाते, तो हम गुरुदेवके कार्यमें असफल रहते हैं।

१६. जब कोई व्यक्ति अपनी सेवा-वृत्ति द्वारा अपनेको विशिष्ट बनाता है, तब उसे गुरुदेवकी प्राप्ति होती है, या यों कहना चाहिए कि गुरुदेव उसे पहचान लेते हैं। उसके संघर्षके समयमें गुरुदेवके करुणाभरे नेत्र बराबर उसे देखते रहे हैं, उसकी उन्नतिको ध्यानमें रखते रहे हैं। अनेक जन्मोंसे उसपर उन्हींका प्रभाव पड़ता आया है और अब वे ही उसके पथप्रदर्शक होंगे।

१७. बिना दूसरोंकी सेवाका कोई कार्य अपने हाथमें लिये कोई व्यक्ति हमारी सोसायटी सरीखी संस्थाका सच्चा सदस्य नहीं हो सकता। आध्यात्मिक जीवन पूर्णरूपेण निवेदित जीवन है। यदि हम पायी हुई जीवनी शक्तिको दूसरोंकी सेवामें व्यय नहीं कर देते हैं, तो हमको आध्यात्मिक शक्तिकी प्राप्तिकी आशा छोड़ देनी चाहिए।

१८. प्रत्येक साधकका लक्ष्य यही होना चाहिए कि अपनेको सेवा-कार्यके लिए तय्यार करे, आत्म-संयमका अभ्यास इस प्रकार करे कि जब गुरुदेव उसके हृदयका

निरीक्षण करें, तो उसको सर्वथा स्वच्छ और निष्कलंक पावें। तभी वे हाथ पकड़कर उसको पथपर अग्रसर करेंगे।

१९. बंधुत्वका प्रसार ऊपर और नीचे सभी ओर होता है, इसकी अगणित कड़ियाँ, प्रेम, श्रद्धा और करुणा की होती हैं। यदि हम हाथ फैलाकर अपनेसे श्रेष्ठ महात्माओंसे आशीर्वादकी याचना करते हैं, तो हमें स्मरण रखना चाहिए कि जितना ही हम यह आशीर्वाद अपनेसे छोटे बंधुओंमें वितरित करेंगे, उतना ही और हमें अपने ज्येष्ठ बंधुओंसे प्राप्त होगा।

२०. सत्कार्य करनेकी सबसे अधिक योग्यता हमें तब प्राप्त होती है, जब हम कार्यकी विशालता और कार्यकर्ताओं की बड़ी संख्याका ठीक-ठीक अनुमान लगाते हैं और यह अनुभव करते हैं कि हमारी आध्यात्मिक एकता अपने ज्येष्ठ बंधुओंसे भी है और उनसे भी है जो हमसे भी छोटे हैं और विकास-क्रममें अभी पिछड़े हुए हैं।

२१. गुरुदेवकी प्राप्तिकी आकांक्षासे जब साधक उनकी खोज करता है और अपनी सेवाएँ उन्हें अर्पित करता है, और इस प्रकार कार्य करता है कि गुरुदेवको प्राप्त करके उनकी अधिकाधिक सेवा कर सके, तो बहुत आकांक्षा और लंबी खोजके बाद उसे अपने अंतःकरणके झुटपुटेमें सत्यके प्रकाशकी झलक दिखाई देना आरंभ होती है।

२२. मंदिरके बाहरी चौक तक पहुँचा हुआ जीवात्मा अब अपने बचे-खुचे अहंकारको मिटानेका प्रयत्न करता है; उसका प्रेम बिना किसी प्रत्युत्तरकी अपेक्षा किये हुए अबाध गतिसे प्रवाहित होने लगता है; क्योंकि वह भली भाँति जानता है कि जहाँसे प्रेमका कोई प्रत्युत्तर नहीं आता, वहीं प्रेमके प्रवाहकी सबसे अधिक आवश्यकता है और ऐसी ही आत्माएँ प्रेमकी अधिकारिणी हैं और उन्हींको इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है जो कि स्वयं अभी प्रेमका कुछ भी प्रतिदान नहीं देती।

२३. मंदिरके चौकके शांत वातावरणमें, जहाँ मन्दिरके अंतर्भागसे करुणाका प्रकाश आता रहता है, किसी प्रकारके क्रोधके लिए कोई स्थान ही नहीं है।.........
साधकको तो अब यह समझना है कि अपराध करनेवाले लोग भी उसके अपने बंधु हैं और जितना कष्ट वे अपने द्वारा दूसरोंको पहुँचाते हैं, उससे कहीं अधिक कष्ट वे अपराधी स्वयं भोगते हैं।

२४. हमारा निम्नात्मा निश्चय कर लेता है कि उसका समस्त सांसारिक जीवन अबसे सेवामें ही व्यतीत होगा और जीवनका उद्देश्य ही यही है कि उच्चात्माके उपयोगके लिए सामग्री एकत्र की जाय। यह उच्चात्मा ही उसका अपना असली स्वरूप है और इस सामग्री द्वारा वह अपने व्यक्तित्वको पुष्ट और शक्तिशाली बना

सकेगा, यह व्यक्तित्व हमारे अहंकार, हमारे निम्नात्मा से कहीं उच्चतर और स्थायी है।

२५. ध्यान रहे, मंदिरके बाहरी चौकमें वे ही लोग पहुँचते हैं, जिन्होंने निश्चित रूपसे सेवाका व्रत लिया है, जिन्होंने सब कुछ निवेदित कर दिया है, और जो उसके बदलेमें सेवा करनेके अवसरके अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते।

२६. जीवात्मा यह सीख लेता है—और यह पाठ बाहरी चौकमें ही सीखा जाता है—कि मंदिरके द्वार खुलनेका एक ही साधन है कि हम अपने और अपनेसे पीछे वालोंके बीचका अन्तर अपने मनसे दूर करदें।

२७. जगद्गुरुके कार्यका यह एक चिन्ह ही है कि दीन और परित्यक्त, निराश और पतित उनके पास बिना किसी भेद-भावनाके आते हैं। उन्हें जगद्गुरुसे सांत्वना और सहानुभूति मिलती है, किसी प्रकारका तिरस्कार नहीं; जगद्गुरुसे बराबर दयाका प्रवाह होता रहता है, उनसे एक ऐसे प्रेमकी वर्षा होती रहती है जिसमें दीन दुखियोंकी वेदना समझनेकी शक्ति होती है। अज्ञानी जन-साधारण यह तो नहीं जानते कि ये जगद्गुरु हैं, किंतु वे यह अनुभव करते हैं कि उनमें ऊँचे उठानेकी शक्ति है, अनुप्राणित करनेवाला जीवन है और उनके सामीप्यसे दीन दुखियोंको एक अपूर्व शक्ति और आशा की प्राप्ति होती है।

२८. आओ उन अगणित बन्धुओंकी बात सोचें, जो अंधकारमें पड़े हैं और फिर अपने संघर्ष, अपनी वेदना और अपने त्यागसे उत्पन्न होनेवाली उत्कर्षदायिनी शक्तिका विचार करें। हम अपने बन्धुओंको एक पग प्रकाशके समीप ले जा सकते हैं, उनकी पीड़ाको कुछ कम कर सकते हैं, उनके अज्ञानको किसी हद तक दूर कर सकते हैं और प्रकाश और जीवनकी ओर उनकी यात्राको कुछ कम लम्बी बना सकते हैं। ऐसा हममेंसे कौन है जो थोड़ा बहुत जानने पर भी दूसरोंको जो बिलकुल नहीं जानते कुछ देनेको तैयार न होगा ?

२९. हम सब अत्यंत दुर्बल हैं, हमारी शक्ति भी थोड़ी है और हमारी बुद्धि भी सीमित है' प्रेमपूर्ण हृदय, जिसने अपनेको सब प्रकारसे अर्पित कर दिया है, कहता है : "मैं सेवा करनेको प्रस्तुत हूँ, जो कुछ भी थोड़ा बहुत मैं कर सकूँ, मुझे करने दो। मुझे एक नलिका बन जाने दो जिसके द्वारा भगवानका वरदान मानव तक पहुँच सके।" ऐसी प्रार्थना कभी अस्वीकार नही होती, उत्तर मिलता है, आओ, 'हमारे साथ मानवताके लिए कार्य करो, परिश्रम में योग दो और साथ ही सफलताके सुखमें भी भागी बनो। आओ, हम लोग मिलकर मानवताके उत्कर्षके लिए प्रयत्न करें।'



आत्म-त्याग

[illegible] **तीसरा अध्याय**

१. शिष्यका हृदय एक बलिवेदी है, भगवद्भक्तिकी अग्नि उस वेदीपर प्रज्वलित हो रही है। उसके समस्त कार्य क्या भौतिक, क्या मानसिक, उस वेदीपर नैवेद्यके समान अर्पित होते हैं और एक बार अर्पण कर देनेके पश्चात् शिष्यको उनसे कोई वास्ता नही रहता।

२. तात्कालिक सुखको दूसरोंके लिए बलिदान करना यह तो आत्म-त्याग नहीं है, यह आत्माका प्रकटीकरण है, और वास्तवमें आत्मा ही मनुष्य है।

३. ईश्वरीय जीवन आत्म-दानमें है, संचय और प्रतिग्रहमें नहीं, ईश्वरीय जीवन प्रवाहित करनेमें है, पकड़ रखनेमें नहीं। ज्यों-ज्यों मानव अपनेमें शरीर रूपी पशुका जीवन घटते और आत्माका जीवन बढ़ते हुए अनुभव करता है, त्यों त्यों उसमें दैवी शक्ति आती जाती है।

४. सब जीवोंके परे जीवन, हमारे निम्न आत्माओंसे परे आत्माकी भावना, इसे हम कैसे पहचानेंगे? हमें इसके

सत्य होनेका ज्ञान किस प्रकार होगा? केवल जीवनकी छोटी-छोटी बातोंमें आत्मत्यागका अभ्यास करनेसे; मनसा, वाचा, कर्मणा एकात्मताका व्यवहार करनेसे; केवल शब्दोंमें नहीं, क्रियात्मक रूपसे, निरंतर दूसरोंको प्रथम और अपनेको अंतिम स्थान देनेसे।

५. लोग अपनेको किसी महान् त्यागके लिए तैयार करते हैं और दैनिक जीवनकी छोटी-छोटी बातोंकी अवहेलना करते हैं। वास्तवमें इन्हीं छोटी-छोटी बातोंसे तो मन अगणित धागों द्वारा बँधा रहता है।

६. सच्चा त्यागमय जीवन वह है जिसमें आत्मविस्मृति हो जाती है, त्याग इतना स्वाभाविक हो जाता है कि प्रयासकी भावना होती ही नहीं, वह तो अपने आप होता प्रतीत होता है।

७. एक ऐसा मार्ग है जिससे जगद्गुरुके-जीवनकी छाया साधारण मानवजीवन पर पड़ सकती है; यह इस प्रकार हो सकता है कि प्रत्येक कार्य यज्ञस्वरूप किया जाय, कर्ताके लिए कुछ फल देनेके लिए नहीं, किन्तु दूसरोंके हितके लिए, और इस प्रकार दैनिक जीवनकी छोटी-छोटी बातोंमें भी उद्देश्य बदल दिया जाय और फिर सभी कुछ बदल जायगा।

★

८. बाह्यजीवनमें किसी प्रकारके परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं है; किसी भी जीवनमें आत्मत्यागका अभ्यास किया जा सकता है, किसी भी वातावरण और परिस्थितिमें ईश्वरकी सेवा की जा सकती है।

९. हम दूसरोंकी सच्ची सहायता नहीं कर सकते, जबतक हमारे हृदय सहानुभूतिसे उद्वेलित न हों, और हम उन्हींकी दृष्टिसे न देखें। सच्ची सहायता बाहरसे नहीं, भीतरसे की जाती है; ज्यों-ज्यों हम उनके मन और हृदयमें प्रवेश करके, उनमें शक्ति और साहसका संचार करते हैं और अपने अनुभवका कुछ अंश उन्हें देते हैं, त्यों-त्यों हमें उनकी सहायता करनेमें अधिक सफलता मिलती जायगी।

१०. त्यागका अर्थ है सबके हितके लिए निरंतर कार्य करते रहनेकी शक्ति, ऐसे कार्य करनेकी शक्ति जो व्यर्थ हो ही नहीं सकती, क्योंकि यह कार्य स्वयं विश्व-कर्मा भगवान्‌का ही कार्य है, जो वे अपने सेवकके द्वारा कर रहे हैं।

११. हम और आप आज ही उस महात्यागका आरम्भ कर सकते हैं, और यदि हम यह त्याग अपने दैनिक जीवन, अपने क्षण क्षणके व्यवहारमें आरम्भ नहीं करते तो विश्वास रखिये कि जब उपयुक्त समय आयेगा तो

हम यह महात्याग कदापि न कर सकेंगे। दैनिक त्याग का अभ्यास, चिंतन करनेका अभ्यास, सदैव दान करने और कुछ न लेनेका अभ्यास—इसी अभ्यासके द्वारा हम लोग महात्याग करना सीख सकेंगे।

१२. आगे चलकर त्याग केवल ऋणशोध ही नहीं रहता, वह तो एक आनंदपूर्ण सर्वस्वदानका रूप धारण कर लेता है।

१३. जिस अनुपात में अपनी निजी बातोंसे हम अपनेको रिक्त करने जायँगे, उसी अनुपातमें वह दैवी पूर्णत्व हमें भरता जायगा और हमें अपूर्व संपूर्णताका अनुभव होगा। निवृत्तिमार्गका मूलमंत्र ही त्याग है। त्याग उसी प्रकार जीवनका रहस्य है, जैसे रूपका रहस्य है संग्रह।

१४. प्रेम और त्याग, स्थूल जगत्में आत्माके येही व्यक्त रूप हैं। सत्ज्ञान भी आत्माका स्वरूप है। आत्मा त्रिमूर्ति है; प्रेम, त्याग और ज्ञान ये तीनों आत्मामें निहित हैं। और ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना प्रेम।

१५. जब वे लोग जो संपत्तिवान् हैं, त्याग करने को प्रस्तुत होंगे, तभी हमारी पृथ्वी पर एक नये युगका आरंभ होगा। जब संपत्ति, विद्या और शक्तिको सम्पत्तिवान्, विद्वान् और शक्तिशाली लोग लोकहितके लिए धरोहर समझने लगेंगे, तभी एक नवीन, सुंदर और उदार जगत्का आविर्भाव होगा।



१६ आत्माके उदयका चिन्ह ही है आत्मत्यागकी प्रबल आकांक्षा, केवल दानकी भावना, पानेकी कोई चिंता नहीं ।

१७ जब प्रत्येक सामाजिक कार्यक्रममें बड़ोंकी त्यागवृत्ति, एवं छोटोंका सहयोग और उनकी प्रेम-भावना, ये दोनों एक साथ मिल जाते हैं और प्रत्येक अपने देने योग्य वस्तु देता है, तब कोई किसीका तिरस्कार नहीं करता, क्योंकि राष्ट्रके निर्माणमें बड़े छोटे सभीकी आवश्यकता है ।

१८. यदि सम्पत्तिका उपयोग लोग सुखभोगके बदले शिक्षाके प्रसारमें करें, तो सच्चे आत्मत्यागका श्री गणेश हो और क्रान्तिकी रोक-थाम भी हो, क्योंकि तब लोग छीन लेनेकी राह न देखकर स्वेच्छासे दान करने लगते हैं और अपने आप हाथ बढ़ा कर देते हैं, उस समयकी राह नहीं देखते जब राज नियम बलात् उनसे उनकी सम्पत्ति छीन ले ।

१९. यदि लोग औरोंको भागीदार बनाते—धनमें नहीं मैत्री, सहयोग, सहायतामें, और संस्कृति एवं शिष्टतामें जन-साधारणको साथ ले चलते, तो क्रांतिका भय दूर हो जाता; क्योंकि जो जनसाधारणसे स्नेह-भावना रखते हैं और उनकी सेवा करना चाहते हैं, उनके प्रति विद्रोह कोई न करेगा ।

२०. धन तो उपयोगमें नष्ट हो जाता है, किंतु ज्ञान और प्रेम देनेसे बढ़ते हैं; यदि तुम्हारे पास ज्ञान है, तो

दूसरोंमें वितरित करो, इससे तुम्हारी हानि न होगी; तुम्हारा ज्ञान औरोंके सिखानेकी चेष्टामें बढ़ेगा ही ।

२१. आत्मदान करनेसे ही तुम्हें आत्मानुभूति होगी। दूसरों पर अपने जीवनकी वर्षा करके तुम अपने देवत्वका ज्ञान प्राप्त करोगे।

२२. जब तुम्हें आत्म-समर्पणके आनंदका अनुभव हो चुकता है, जब तुम दूसरोंको अपने जीवनका दान देनेमें अपने जीवनके विस्तृत होनेका अनुभव करने लगते हो, तभी तुम्हें यह ज्ञात होगा कि सेवामय हो जानेमें ही पूरी स्वाधीनता निहित है, और अपना जीवन दूसरोंक अर्पित करनेसे मानव अनंत जीवनकी प्राप्ति करता है; यही अनंत जीवन मानवका अंतरात्मा है ।

२३. त्यागका सत्त्व है आत्मदान अथवा आत्म-प्रवाह, देनेकी इच्छा ही त्यागको प्रेरित करती है और उसका अंतःतत्व है जोकुछ अपने पास है उसे दे डालने, प्रवाहित कर देने की आकांक्षा । अपने पासकी वस्तुको बहु मूल्य समझकर ही मनुष्य उसे दूसरोंको उनकी सहायता और उनके आनंदके लिए देना चाहता है ।

२४. त्यागको बाह्य दृष्टिसे नहीं, भीतरी दृष्टिसे देखने पर



यह दूसरोंको सुखी करनेके लिए आत्मदान है, आत्म-प्रवाह है और इसलिए त्याग कष्टमय न होकर आनंद-मय है; यह दान यज्ञकर्म है ।

२५. त्यागका नियम दैवी प्रकृति पर आधारित है; सृष्टिकी रचनाके लिए जो महाबलिदान किया गया वह आनंद-स्वरूप प्रकृतिका, ही आत्मदान था; इसलिए सारी सृष्टिका प्रयोजन ही आनंदका वितरण है । इस आनंदके वितरणके द्वाराही अनेक एकसे सम्बद्ध होते हैं और इस सामीप्य, इस एकीकरणमें ही उस अकथनीय शाश्वत शांतिकी प्राप्ति है ।

२६. हमें यह पूर्णरूपसे समझ लेना चाहिए कि आत्मदानमें ही उच्चातिउच्च आनंद है, क्योंकि यही दैवी प्रकृतिका सत्त्व है । दूसरी बात समझनेकी यह है कि ज्यों ज्यों मानव अपने दैवी स्वरूपका साक्षात्कार करता जायगा, त्योंत्यों उसे आत्मानंदका अनुभव होगा और वह दूसरों को अधिकाधिक आनंद दे सकेगा ।

२७. जो कुछ अपने भूतकालमें साधकने एकत्र किया है, जो शक्ति अर्जित की है, वह सब नैवद्य स्वरूप लेकर उसे मंदिरके द्वार पर जाना चाहिए; खाली हाथ वहाँ न जाना चाहिए । उसे किसी भी शक्तिको नष्ट नहीं

करना है, उसे तो केवल उनका परिष्कार करना है, जो कदाचित् नष्ट करनेसे अधिक कठिन कार्य है । जो गुण और शक्तियाँ उसने अर्जित की हैं; उनके सत्त्वकी रक्षा करते हुए, उसे अहंकारके अंशको नष्ट कर देना है।

२८. जीवात्माको तबतक क्षणभरका भी विश्राम नहीं, संतोष नहीं, जब तक वह अपनेको अपने लक्ष्यके अधिकाधिक समीप आते नहीं अनुभव करता, जब तक वह अपने द्वारा दिव्यपद-प्राप्त सिद्ध पुरुषोंका प्रकाश पार जानेमें किंचित् भी विरोध-भावनाका अनुभव नहीं करता ।

२९. यही कारण है कि मंदिरके बाहरी चौकमें संसारमें कष्टप्रद जान पड़नेवाली बातें भी, आनंददायी जान पड़ने लगती हैं, और परिष्कार करनेवाली पीड़ा मित्र-वत् जान पड़ती है ।

३०. वाणी सत्य और कोमल होनी चाहिए, सत्य, कोमल और शिष्ट, इसे वाक्तप कहा है, वाणीका तप और समर्पण, जिसकी साधना प्रत्येक साधकको करनी पड़ती है।

३१. स्वाधीन होकर वह बाह्य परवशतासे मुक्त हो जाता है । पूर्ण निःस्वार्थ भाव वह सीख लेता है और जान जाता है कि उसे सबके हितकी खोज है। सर्व-भूत-हित ही उसका लक्ष्य है ।

विवेक

१. तुम्हें शुद्ध विवेकका अभ्यास करना चाहिए, और अपने आसपास जीवनमें क्या मूल्यवान है और क्या व्यर्थ, यह जानना चाहिए। जिन स्त्री पुरुषोंसे तुम अपने दैनिककार्यमें मिलते हो। उनमें उनकी वासनाओं और मूर्खता आदि बाह्य दोषोंसे परे हृदयस्थ ईश्वरको पहचाननेका अभ्यास करना चाहिए।

२. सबमें ईश्वरके दर्शन करके, प्रत्येक व्यक्तिमें उसके सद्गुणोंको देखकर, दोषोंको नहीं, उनके उच्चतर व्यक्तित्व-से अपना एकात्म्य अनुभव करके ही तुम उनकी सहायता कर सकते हो। उनके दोषोंसे भी घृणा न करो, क्योंकि घृणा तो दोषोंको सबल बनाती है और फिर मनुष्यका ऊपर उठना और भी कठिन हो जाता है। यह पहिला सद्गुण है, जिसका साधन-पथकी परीक्ष्य-माण अवस्थामें अभ्यास हो जाना चाहिए।

३. हमारे सामने ये दोनों बातें हैं, हम थोड़ेही अनुभव-से संतुष्ट हो जायँगे या हमें किसी गुण विशेषको

सीखनेके लिए बारबार उसी अनुभवको दुहराना पड़ेगा। जिसे हम पाप कहते हैं वह भले-बुरेका विवेक हो जानेके बाद भी, जानबूझकर निचले या बुरे मार्गको अपनाना है।

४. यह आवश्यक है कि अपनी शक्तिका अनुमान कर लें और जो कुछ हम करना चाहते हैं उसे शक्तिके ही अनुसार करें। प्रश्न कार्यकी मात्राका नहीं है, वरन् उस कार्यकी मात्रा और हमारी कार्यशक्तिके सामंजस्यका है।

५. जो केवल शरीर-प्रधान जीवनसे हट कर मनःप्रधान जीवन यापन करनेकी चेष्टा कर रहे हैं, वे मानव-विकासकी सहायता कर रहे हैं, क्योंकि वे क्षणभंगुर वस्तुसे अपेक्षाकृत स्थायी वस्तुकी ओर बढ़ रहे हैं।

६. साधकका मुख्य उद्देश्य सेवा करनेकी योग्यता प्राप्त करनेका है; इसलिए उन विषयोंके चुनावमें, जिन पर वह अपनी शक्ति लगाना चाहता है, उसे इस बातपर भी ध्यान देना होता है कि उनका बाह्य जगत पर क्या प्रभाव पड़ता है, कहाँ तक वे सहायता देनेमें, सबल बनानेमें और परिष्कृत करनेमें सफल होंगे।

७. वह जानबूझ कर अपनी चेतनाको सद्विचारोंके लिए चुम्बकसी बना लेता है, ताकि जो कुछ अशुभ है, अपवित्र है, वह सब उसकी चेतनाको स्पर्श करतेही विनष्ट

★

हो जाय और जो कुछ शुभ है, पवित्र है, वह उसकी चेतनामें प्रविष्ट होकर और भी फले फूले।

८. शरीरको अपना समय स्वयं निश्चित करनेका अभ्यास न पड़ने दो; उसे इस प्रकार प्रशिक्षित बनाओ कि वह तुम्हारी आज्ञाका तत्काल पालन करे, तभी शरीर मनका उपयोगी सेवक बन सकेगा। यदि कुछ दिनके अभ्यासके बाद तुम्हें जान पड़े कि तुमने ठीक निर्णय नहीं किया था, तो अपने निश्चय और अभ्यासको बदल दो; अपनी संकल्प-शक्तिको दृढ़ बनानेमें कठोरतासे काम न लो। यदि किसी अभ्यास अथवा निश्चयसे काम नहीं चलता तो, उसे अवश्य बदलो; किंतु सोच समझकर अपने समयसे बदलो, शरीरके आलस्यमात्रके कारण नही।

९. मानसिक ज्ञान बहुत कुछ तुम्हारे पास है, केवल उसे व्यवहारमें लाना, क्रियात्मक रूप देना तुम्हारा काम है। समाज-सुधारकी नयी नयी योजनाओंके पीछे विना सोचे-समझे न दौड़ पड़ो; यह विचार करो कि साल दो साल बाद इस योजनाका परिणाम क्या होगा, जिस समाजके हितमें तुम यह सुधार करना चाहते हो, उसका स्थायी हित इस योजनासे कहाँ तक होगा।

१०. थिऑसोफिस्ट होनेके नाते हमारा कर्तव्य है कि

विकासकी समस्याओंके हल करनेकी ओर ध्यान दें, अपनी शक्तिभर यह समझनेकी चेष्टा करें कि विना अधिक सोच-विचार किये, किस हद तक और कहाँ कहाँ, बंधुत्वकी भावनाका व्यावहारिक प्रयोग किया जा सकता है।

११. अवश्यही हम उच्चतम शिखर पर पहुँचना चाहेंगे, क्योंकि विना इस के हम कुछ भी उन्नति न करेंगे। क्षणिक, तुच्छ और संकीर्णतापूर्ण वस्तुओंसे हमारा तादात्म्यही हमको रोके हुए है। क्या हम आगे बढ़कर अपने-आपको अनश्वर, उदार और विशालता-पूर्ण वस्तुओंसे एकीकृत नहीं कर सकते?

१२. जो लोग आयुमें बड़े हैं, उनसे मेरा अनुरोध है कि तरुणोंके विचारों पर अधिक रोक-थाम न करें। प्रत्येक पीढ़ी सत्यकी ओर एक पग आगे बढ़ती है। हम वृद्धजनोंके पास सम्पूर्ण सत्यका ज्ञान नहीं है, हम तो केवल सत्यको जाननेका प्रयत्न कर रहे हैं। एक दृष्टिसे नयी आयुवाले लोग हमसे उच्चतर स्थितिमें हैं, क्योंकि वे उन्हीं सत्योंको, जिन्हें हमने बड़ी मानसिक पीड़ा और संघर्षके बाद प्राप्त किया है, सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

१३. परमावश्यक एवं अपेक्षाकृत अनावश्यकमें विवेक करते हुए

साधकको समस्त गौण बातोंमें नम्रता, शील तथा सरलता से दूसरोंकी बात मान लेनी चाहिए। छोटी छोटी बातोंमें दूसरोंकी बात मान लेना आवश्यक है, ताकि महत्त्वपूर्ण और परमावश्यक बातोंमें हम संपूर्ण दृढ़ताके साथ कार्य कर सकें।

१४. सहायता देनेके कर्तव्य और दूसरोंपर प्राधान्य जमाने की इच्छा, इन दोनोंमें भी विवेक करनेकी आवश्यकता है। कितने ही लोग बराबर दूसरोंकी विचार-शृंखला तथा कार्य में हस्तक्षेप किया करते हैं और अपने मोक्षकी चिंता करने के बदले दूसरोंके मोक्षके पीछे व्यग्र रहते हैं।

१५. साधकको सत्य और असत्यमें भी विवेक करना चाहिए, केवल सांसारिक दृष्टिसे नहीं, बल्कि एक योगाभ्यासीकी दृष्टि से।

१६. आसपासकी समस्त वस्तुओं और सभी लोगोंमें तुमको सदा बने रहनेवाले तत्व और नाशवान क्षणिक तत्वों में, बाह्य रूप और आभ्यंतरिक वास्तविकतामें, विवेक करना चाहिए। जो शाश्वत है और जो क्षणभंगुर है, उसमें तुम्हें विवेक कर सकना चाहिए।

१७. ज्यों ही दोषका ज्ञान हो जाय, त्यों ही फिर मनकी उमंगके अनुकुल दोष-पूर्ण कार्य करना जानबूझकर पतनके पथपर जाना है।

१८. संपूर्ण सत्य तो ईश्वरमें ही है, हमारा सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ, तो सापेक्ष है और हममेंसे प्रत्येकके लिए हमारी विकासावस्थापर निर्भर है।

१९. यदि हम एक अपरिपक्व जीवात्माके समक्ष कोई ऐसा उच्चादर्श रखते हैं जो उसे आकृष्ट नहीं करता, तो हम उसके विकासमें बाधा डालते हैं।

२०. अनुभव ही जीवनका नियम है, यह उन्नतिका नियम है। बिना पाप और पुण्य दोनोंहीका अनुभव हुए शुभ और अशुभका विवेक किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है।

२१. यदि किसी व्यक्तिको हम ऐसा उपदेश देते हैं जो उसकी पहुँचके बाहर है, तो वह समझता है कि हम व्यर्थकी बकवाद कर रहे हैं, क्योंकि हम उससे वह कार्य करनेको कहते हैं जिसे करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। अपनी मूर्खताके कारण हम ऐसे उद्देश्य उसके सामने रखते हैं जो उसे अनुप्राणित नहीं करते।

२२. योगाभ्यासीका अपना सत्यका अभ्यास ही उसका पथप्रदर्शक और उसका कवच है। उसका पथप्रदर्शक है, क्योंकि यही उसे मिथ्या मार्गको छोड़कर ठीक मार्ग पर चलनेको प्रेरित करता है, उसका कवच इसलिए



है कि जिन मायावी भूमिकाओंको उसे पार करना है उनमें यही सत्यवादिताका अभ्यास उसे सुरक्षित रखेगा।

२३. मनसा, वाचा, कर्मणा सत्यके अभ्याससे ही हमारे भीतर वह आध्यात्मिक दृष्टि जगेगी जो भ्रमके माया-जालको छिन्न-भिन्न कर देगी और जिसके सामने प्रकृति का कोई छलबल सफल न होगा।

२४. सब ओर परदे पड़े हैं, संसारमें सभी जगह मायाका छल और भ्रमजाल छाया हुआ है, आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि ही इस भ्रमजालको छिन्न-भिन्न करके सत्यके दर्शन करा सकती है।

२५. नवोदित होनेवाली वस्तुओंसे, नाश होती हुई वस्तुओंको, तुम्हें अलग निकाल देना है, तुम्हें यह भी जानना है कि इनमेंसे किन पर तुम अपनी शक्ति एवं प्रयत्न लगाओगे। शक्तिकी मितव्ययिता और सदुपयोगके विचारसे तुम्हें विकासशील जीवनके उन रूपोंपर ध्यान देना है जिनकी ओर आस-पासके अधिकांश लोगोंका ध्यान न जायगा।

२६. मनुष्य योंही झोंकेमें बहा करते हैं क्योंकि वे जानते नहीं, निःसहाय वे इसलिए हैं कि वे देख नहीं सकते; जो औरोंसे अधिक शीघ्रताके साथ अपने पथको

समाप्त करना चाहता है, उसे ज्ञानकी भी आवश्यकता है और प्रेमकी भी, उसे विद्या भी चाहिए और लगन भी। बहुत काल पहिले गढ़ी हुई जंजीरकी कड़ियोंके घिसकर नष्ट होनेकी राह नहीं देखनी चाहिए, उसे तो उन्हें रेतीसे काटकर स्वतंत्र हो जाना चाहिए, ठीक उसी प्रकार मानों वे स्वयं मुरचा खाकर गल गयी हों।

२७. अंधकारमें हमें उसी प्रकार अधिक उदास न होना चाहिए, जैसे प्रकाशमें बहुत प्रफुल्लित होनेकी आवश्यकता नहीं है। एक अनुभवका संतुलन दूसरेके साथ करना चाहिए, वर्तमान पीड़ाको भूतकालके आनन्दकी याद और आगामी आनन्दकी आशासे मिटा देना चाहिए, ताकि सुख या दुःख कोई भी जीवात्माकी दृढ़ स्थितिको डावोंडोल न कर सकें।

२८. प्रथम साधन विवेक है, सत् और असत्की पहचान। किसी गुणको लेकर उसका ध्यान करना और फिर जीवनमें उसका अभ्यास करना, यही निश्चित उन्नतिका मार्ग है।

२९. मंदिरके बाह्य चौकमें देवत्वकी पहचान होनी ही चाहिए, चाहे उसपर कितने ही मोटे परदे क्यों न पड़े हों, क्योंकि यहाँ तो आत्माकी अन्तर्दृष्टि जागृत होनी चाहिए और अपने आत्मा और दूसरोंके आत्मामें कोई परदा, कोई अन्तर न रह जाना चाहिए।



३०. योगाभ्यासीके लिए सत्य और असत्य, पुण्य और पापमें चुनावका कोई प्रश्न ही नहीं उठता; किन्हीं भी दामों पर, कुछ भी त्याग करके उसे तो सत्यको, पुण्य पथको ग्रहण करना ही है। औरोंकी तरह उसे ईश्वरेच्छा के अनुकूल कार्य करने और उसके विरुद्ध जानेके दो मार्गों में से किसे अपनाना है, इसमें किसी प्रकारकी हिचकिचाहट हो ही नहीं सकती।

वैराग्य

मई　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पाँचवा अध्याय

१. वैराग्यकी प्राप्तिकी चिंतामें प्रेमको नष्ट न कर दो। हम सबमें, भिन्न भिन्न आत्माओंमें, प्रेम ही जीवन है। वह प्रत्येक जीवात्माको दूसरे जीवात्माकी ओर आकृष्ट करता है।

२. वैराग्य प्राप्त करनेके लिए उसका अभ्यास दैनिक जीवन की समस्त बातोंमें होना चाहिए।

३ छोटी छोटी असुविधाएँ, खाद्य पदार्थों में रस, शारीरिक सुख, इन सबके प्रति हम विरक्तिका अभ्यास कर सकते हैं, बाह्य वस्तुओंका सद्भावके साथ सहर्ष स्वागत कर सकते हैं, न सुखकी अभिलाषा करते हुए और न दुखका तिरस्कार।

४ सभी आकर्षण जीवात्माको बांधते हैं और उसे उसी स्थान पर लौटा कर लाते हैं, जहाँ उस आकांक्षाकी पूर्ति हो सके।

५. जब एक बार हमें गुरुदेवके पूर्णत्व और अनुपम सौदर्य के दर्शन हो चुकते हैं, जब हमारी आंखोंमें उनके स्वभावकी विद्युच्छटा बस चुकती है, तब केवल एक आकांक्षा मनमें रह जाती है—उन्हींके समान हो जानेकी आकांक्षा, मानव



समूहके बीच कितने ही छोटे रूपमें क्यों न हो, उनके संदेश-वाहक बननेकी लालसा।

६. जब साधन-पथ पर चलनेकी उत्कंठा एक बार उत्पन्न हो चुकती है, तो असत् वस्तुओंका आकर्षण अपने आप मिट जाता है और पूर्णत्वकी ओर अग्रसर होनेके लिए तत्पर पुरुषको छोटे छोटे क्षणभंगुर शारीरिक सुखोंकी लिप्सा रोक नही सकती।

७. अपनेको परिणामकी चिंतासे अलग करनेका एक फल यह होता है कि मनको शांति प्राप्त होती है, और प्रत्येक कर्म एकाग्रतासे किया जाता है।

८. 'साधना'का अर्थ केवल ध्यान नहीं है, यद्यपि बहुधा इसी अर्थमें लोग इस शब्दका प्रयोग करते हैं। साधनाके माने हैं निश्चित रूपसे आकर्षक वस्तुओंके मध्यमें रहते हुए भी, उनके प्रति कार्यरूपमें वैराग्यका निरंतर अभ्यास करते रहना।

९. हमें वह स्थिति प्राप्त करनी है जहाँ समस्त वासनाएँ शांत हो जायँ, वासनाके विषयोंके प्रति कुछ भी अनुराग न रह जाय, वे समस्त बंधन जो मानवको आसपास-की वस्तुओंसे बांधे हुए हैं, टूट जायँ।

१०. यह वैराग्य किस प्रकार प्राप्त हो? ·· धीरे धीरे

आत्मामें की अनुरक्ति द्वारा अपनेको बाह्य वस्तुओंसे खींच कर। आत्मा सदैव आत्माको आकर्षित करता है।

११. किंतु एक प्रबल चेष्टा मात्रसे, एकही प्रयासमें, योगाभ्यासके इच्छुक साधकको वैराग्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसे तो बराबर दृढ़निश्चयके साथ वैराग्यका अभ्यास करते रहना चाहिए।

१२. कभी कभी साधना-रत शिष्यको सिद्धियोंके प्राप्तिकी आकांक्षा आ घेरती है। "यदि मुझे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती तो मै कितना अधिक उपयोगी हो सकता; यदि शरीरको निद्रामें छोड़कर बाहर जाकर किये हुए कार्योंकी स्मृति रहती, तो मैं लोगोंकी कितनी अधिक सहायता कर सकता।" इन सब बातोंका ठीक ठीक निर्णय कौन कर सकता है? क्या चाहिए क्या न चाहिए, यह कौन ठीक ठीक जानता है? गुरुदेव या स्वयं शिष्य? यह सब गुरुदेव पर ही छोड़ दो; वही निश्चय करेंगे कि सिद्धियोंकी शक्ति तुममें कब प्रकट हो।

१३. वैराग्यकी प्राप्ति हमें अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि उच्च-चेतनाके निम्नजगत्‌में प्रकट होनेकी यही कसौटी है।

१४. 'कर्मफलके प्रति उदासीनता' के यह अर्थ नहीं हैं कि हम अपने कार्यके परिणामको देख कर अपने कार्य



क्रमको न सुधारें। इस प्रकार परिणाम पर विचार करके हम अनुभव प्राप्त करते हैं और हमारा ज्ञान बढ़ता है। परंतु यह अर्थ उदासीनताका अवश्य है कि जब खूब सोच विचार कर हमने कोई काम किया और हमारा उद्देश्य पवित्र था, तो फिर उसके फलके संबंधमें हमें निश्चिंत हो जाना चाहिए।

१५. व्यक्तिगत सम्पत्तिकी चाह, केवल भौतिक पदार्थोंकी ही नहीं, नैतिक और मानसिक गुणोंकी भी चाह...वे सभी वतुएँ जिनमें हम 'मैं' और 'तू' की धारणा रखते हैं और यह भूल जाते हैं कि 'मैं' और 'तू' वस्तुतः एक ही हैं—यह सब आध्यात्मिक जीवनके विरुद्ध है।

१६. साधकके लिए विवेकके बाद दूसरा गुण है वैराग्य। क्षणिक और नाशवान् वस्तुओंकी चाहनाका अभाव, तथा शाश्वतके प्रति एकाग्रता—यही वैराग्य है।

१७. सूक्ष्म वासनाएँ भी एक एक करके निकाल फेंकनी होंगी। और तब केवल दैवी विधानके अनुसार सेवा करनेका एक दृढ़ संकल्प मात्र रह जायगा। यही वैराग्य है और इसे बौद्ध लोग 'कर्मके लिए तय्यारी' नाम ठीक ही देते हैं।

१८. ज्यों ज्यों शिष्य दैवी-जीवनके प्रवाहके लिए एक नलिका-स्वरूप बनता जाता है, त्यों त्यों वह यही एक

वरदान माँगता है कि संसारको दैवी जीवन दान करनेके लिए वह और भी विस्तृत नलिका बनता जाय, किसी प्रकारकी रोक उसके द्वारा दैवी जीवनके प्रवाह होनेमें न उपस्थित हो; वह केवल सेवाके ही लिए उद्योग करे ; यही शिष्यका जीवन है ।

१९. क्या तुम बिना वेदनाके अपनी योजनाओंको नष्ट होते देख सकते हो ? क्या तुम अपने बनाये मंदिरों को धरा-ध्वस्त होते देख सकते हो ? यदि नहीं, तो फिर तुम्हारा कर्म निष्काम नहीं, सकाम है; वह केवल 'बहुजन हिताय' कर्म नहीं है ।

२०. साधकको आकर्षक वस्तुसे आकृष्ट न होने, और घृणित वस्तुसे घृणा न करनेका अभ्यास करना चाहिए, उसे जानना चाहिए कि दोनो ही भगवान्‌के ही व्यक्त रूप हैं । उनसे उसे शिक्षा लेनी चाहिए, बंधनमें न पड़ना चाहिए।

२१. जब सुख या दुःख आ पड़े, साधक उन्हें स्वीकार करेगा और साधारण मनुष्योंसे उनके आनंद या कष्टकी उसे अधिक तीव्र अनुभूति होगी, किंतु वह उनका उचित मूल्य ही लगायेगा और जीवनकी योजनामें उनका उचित स्थान ही उन्हें देगा ।

२२. इस प्रकार ज्यों ज्यों उसका वैराग्य-भाव, पुष्ट होगा,

———— ★ ————

उसकी अनुभूति-शक्ति कुंठित न होगी, क्योंकि वह तो सांसारिक और आभ्यंतरिक सभी अनुभूतियोंके प्रति अधिक ग्रहणशील होता जायगा; परंतु साधक अब इन भावनाओंसे अपनी स्थितिसे डिगेगा नहीं ।

२३. वह सच्चा वैराग्य, जो एक प्रकारकी प्रबल शक्ति है, हम अपनेमें किस प्रकार स्थापित कर सकते हैं ? पहिले तो हमें उसपर प्रति दिन चिंतन और मनन करना चाहिए, कि वैराग्यका अर्थ क्या है; उसके प्रत्येक अंग पर एक-एक करके ध्यान और चिंतन द्वारा उसका अर्थ ठीक ठीक समझ लेना चाहिए, और फिर दैनिक जीवनमें लोगोंसे व्यवहार करते समय वैराग्यका अभ्यास करना चाहिए।... इस अभ्यासमें हमें शुष्क और नीरस नहीं होना है, बाह्य अनुभूतियोंके प्रति ग्रहणशील रहते हुए भी हमें अपने आंतरिक संतुलनकी रक्षा करनी है ।

२४. ज्यों ज्यों जीवात्मा अपनी आत्मशक्तिके कारण अडिग रहते हुए भी बाह्य अनुभवोंके प्रति ग्रहणशील होनेका अभ्यासी होता जाता है, त्यों त्यों उसे विस्तृत जीवनका भान होता जाता है, जीवनमें एक प्रकारकी सुसंवादिता जान पड़ती है, चेतना विस्तृत होती जान पड़ती है, और संपूर्णसे एकात्मताका अनुभव होने लगता है ।

२५. और जैसे - जैसे पृथकताकी भावना नष्ट होती जाती

है, हृदयमें एक अद्भुत आनंदका प्रवाह होता जान पड़ता है, और जो अनुभव साधारण मनुष्योंको कष्टप्रद जान पड़ते हैं, शिष्यको वे किसी प्रकारकी भी पीड़ा नहीं देते।

२६ किसी घटनामें व्यक्तिगत रस न लो। जीवनमें अपनी स्थितिके अनुसार जो अपना धर्म है, उसे पूरी तरहसे निबाहो; अनुभव करो कि ईश्वर, जो स्वामी और धर्म दोनोंहीके स्वरूप हैं, एक मात्र कर्ता हैं और अंतमें शान्ति और आनंद देनेवाले विशाल विकास-क्रमकी पूर्ति कर रहे हैं।

२७. प्रतिक्षण वासना पर अधिकार प्राप्त करनेसे हम अपने पार्श्ववर्ती वस्तुओंके प्रति वैराग्यके अभ्यस्त होते हैं।

२८. उसके समस्त कर्म इस प्रकार यज्ञ स्वरूप हो जाते हैं और केवल धर्म-चक्रको चलाते रहनेके उद्देश्यसे किये जाते हैं, किसी फलकी इच्छासे नहीं; कर्म करना ही धर्म है; इस लिए कर्म किया जाता है, फल सहर्ष मानवहितके लिए अर्पित कर दिया जाता है। साधकको फल से कोई प्रयोजन नहीं रहता; वह तो ईश्वरीय नियमके अनुकूल होगा और वही इश्वरीय नियम उसका उचित वितरण करेगा।

२९. हर कारणका कार्य होता है, हर कर्मका फल होता



है; वासनाकी डोरी कार्य और कारण, कर्म और फल को एक दूसरेसे बाँधे रहती है। यदि इस डोरीको ही भस्म कर दिया जाय, तो इन दोनोंका संबंध टूट जायगा और जब हृदयके बंधन खुल जायेंगे तो जीवात्मा स्वतंत्र हो जायगा।

३०. उसे अपने आसपासके सभी मनुष्योंको अपना ही अंश समझना चाहिए; उनके सुख दुःखका अनुभव उसे होना चाहिए उनकी दृष्टिसे उसे देखना चाहिए, उनकी भावनाओंको उसे समझना चाहिए और उनमें उसे सहानुभूति होनी चाहिए, बिना किसीको दोषी ठहराये हुए, विना किसीकी निंदा किये हुए। वे सभी उसीके रूप हैं, एक ही जीवनके अंश हैं। विलगताकी भावना सर्वथा नष्ट हो जानी चाहिए

३१. किसी एक प्रकारके कार्यमें भी हमारी आसक्ति न होनी चाहिए। सदैव कार्यमें रहते हुए, हमें सजग होकर अपनेको स्वतंत्र रखना चाहिए। गुरुदेवकी धीमीसे धीमी आवाज हमतक पहुँचनी चाहिए, वह कभी भी किसी निःसहायकी सहायताके लिए हमें कहीं भी भेजना चाहें।

शम—मनका संयम

१. मनका संयम, विचारोंका नियंत्रण, अपने विचारोंके प्रभावका ज्ञान, अपने चारो ओरके जगत्से अपने संबंध-का ज्ञान और यह समझना कि किस प्रकार अपने विचारों द्वारा हम संसारपर भला या बुरा प्रभाव डालते हैं—यह सब मनके संयममें सम्मिलित है।

२. यदि तुम क्रमशः इस प्रकार मनका संयम करना, ध्यान करना और चरित्रका निर्माण करना सीख लोगे, तो मानों तुम वह तीन शब्दोंका मंत्र उच्चारित कर चुकोगे जिसे सुनकर गुरुदेव प्रकट होंगे।

३. जो लोग मनके संयमका अभ्यास करते हैं, उन्हें इस संबंधमें सदैव सतर्क रहना चाहिए कि बाहरसे जो विचार मनमें प्रवेश करते हैं वे किस प्रकारके होते हैं; उन्हें सदा चुन कर ही मनमें प्रवेश करने देना चाहिए।

४. अपने निश्चयानुसार विचारकरने या विचारोंको सर्वथा रोक देनेका अभ्यास करनेसे बहुत शक्ति अर्जित

की जा सकती है। जब हम सोचने लगते हैं तो संपूर्ण मनसे विचार करना चाहिए, परन्तु जब विचार करनेका कार्य समाप्त हो जाय तब उस विषयको सर्वथा छोड़ देना चाहिए; मनको योंही व्यर्थ डोलते न रहने देना चाहिए, लहरोंसे इधर उधर टक्कर खाती हुई डोंगीके समान मनको भटकने न देना चाहिए।

५. हमें स्थिरतासे और क्रमानुसार विचार करनेका अभ्यास करना चाहिए मनको एक वस्तुसे दूसरी वस्तुपर यों ही भटकने न देना चाहिए—नाना प्रकारके क्षुद्र विचारोंके प्रति मनकी शक्तिका अपव्यय न होना चाहिए।

६. साधारणतया मनुष्य स्वयं बाहरसे आनेवाले विचारोंमें कदाचित ही कुछ अपनी ओरसे देता है, विचार आते हैं, वह उन्हें ग्रहण करता है, कुछ समय मनमें टिकाये रखता है, और फिर जाने देता है। होना यह चाहिए कि हम जानबूझकर विचार मनमें लानेका अभ्यास करें, जिस उद्देश्यकी पूर्ति हमारा लक्ष्य हो, उसी उद्देश्यसे विचार करनेका अभ्यास करें।

७. शीघ्र ही तुम देखोगे कि जैसे जैसे तुम केवल सद्विचारोंको अपने मनमें आने दोगे, और कुत्सित विचारोंको मनमें प्रवेश ही न करने दोगे, वैसे वैसे परिणामतः तुम्हारे मनमें अधिकाधिक सद्विचारोंका प्रवाह आयेगा और कुत्सित विचार कम होते जायँगे।

卐

८. विचार, संकल्प द्वारा मनुष्य किसीको मार सकता है, विचार द्वारा रोगको दूर कर सकता है, एक जनसमूह को विचार द्वारा प्रभावित कर सकता है, विचार द्वारा ऐसा मायावी दृश्य प्रकट कर सकता है जिससे लोग भ्रममें पड़कर अपने पथसे भ्रष्ट हो जायँ, इसलिए यह आवश्यक है कि ये विचारकी शक्तियाँ हमें प्राप्त हों, इससे पहिले ही हमें विचारोंके संयमका अभ्यास हो जाना चाहिए और कुत्सित विचारोंको सर्वथा रोक सकनेकी शक्ति उसमें आ जानी चाहिए।

९. सत्कार्यसे सद्विचारोंका जन्म नहीं होता है, सद्विचारोंसे सत्कार्योंका जन्म होता है। हम क्या सोचते हैं, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। यदि हमारे विचार मिथ्यामय होंगे, तो हमारे कार्य भी वैसे ही व्यर्थ होंगे; यदि हम नीच विचारोंको आश्रय देंगे, तो हमारे कर्म भी नीच ही होंगे।

१०. मनको भटकता भागता पाओगे, तो फिर क्या करोगे? जिस वस्तुपर तुम मनको केन्द्रित करना चाहते हो, उसी पर विचारोंको लौटाकर फिर एकाग्र करो। विचारका कोई विषय चुन लो और फिर उसपर निश्चयके साथ क्रमबद्ध विचार करनेका अभ्यास करो।

११. तुम्हारे सभीके जीवनमें कुछ ऐसी बात होगी जिससे



तुम्हारा जी दुखी रहता है। उस कष्टका सामना करने की कल्पना करो; सोचो कि उसे सहन करनेमें तुम्हें कोई दुख नहीं होता। परिणाम यह होगा कि जब सचमुच उस कष्टका सामना करना पड़ेगा, तो तुम उसे उसी शांतिके साथ झेल सकोगे, जिसका तुमने कल्पना द्वारा अभ्यास किया है।

१२. जैसे मंदिरमें शरीरसे झुककर तुम फूल अर्पित करते हो किंतु मन इष्टदेवके ध्यानमें संलग्न रहता है, उसी प्रकार बाह्य-संसारमें कर्तव्यरूपी फूल चढ़ाते हुए शरीर और मन कार्यमें संलग्न रहते हुए भी, तुम स्वयं ध्यान और उपासनामें मग्न रह सकते हो।

१३. जिस मनुष्यको चिंता सताती हो उसे प्रातःकाल तीन चार मिनट किसी ऊँचे और प्रेरणापूर्ण विचारका चिंतन करना चाहिए; "आत्मा शांतिमय है, मैं आत्मा हूँ। आत्मा शक्तिमय है, मैं आत्मा हूँ।" उसे विचार करना चाहिए कि अपने वास्तविक रूपमें वह सच्चिदानंद स्वरूप है, वह अमर, अक्षय, अभय, शुद्ध, शांत और शक्ति-संपन्न है। इस प्रकार चिंतन करनेसे उसे शांति प्राप्त होगी और वह अपनेको शांत अनुभव करने लगेगा।

१४. मनका ऐसा संयम रखो कि किसी वस्तुपर उसे एकाग्र कर

सको और इस प्रकार उस वस्तुकी वास्तविकताके सारको पूरी तौरसे समझ सको और साथ ही इस संयमके द्वारा अपने चरित्रका निर्माण कर सको।

१५. जिस कार्यको तुम अशुभ और बुरा समझ चुके हो, उसे करनेका कोई समर्थन हो ही नहीं सकता। अनिवार्य कार्य तो वे हैं जो कुछ सोचने-विचारनेके पहले ही हो जाते हैं—उनकी विचारशक्ति तो भूतकालकी होती है, केवल उनका स्थूल कार्यरूप वर्तमानमें प्रकट होता है।

१६. अपने सक्रिय जीवनमें प्रतिक्षण तुम्हें एकाग्रताका अभ्यास करना चाहिए। अपने समक्षकी वस्तुसे विलग मनको भटकने न दो। किस वस्तुपर विचार करते हो, इसका कुछ भी महत्व नहीं है। कुछ भी वस्तु हो, महत्व तो मनोभावका है, वस्तु विशेषका नहीं। मनको एकाग्र करनेका अभ्यास इसी प्रकार होगा।

१७. कुत्सित विचारों द्वारा बिछाये हुए जालके बंधनको सद्विचारों द्वारा ही छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। जब तक हम अपनेको शरीर समझते रहेंगे, हम शरीर द्वारा बँधे रहेंगे, यदि हम अपनेको मन समझते रहेंगे, तो मन द्वारा बँधे रहेंगे, जब तक हम निचली वस्तुओं से अपना एकीकरण अनुभव करते रहेंगे, हम उन्हीं निचली वस्तुओंसे बँधे रहेंगे। इसी प्रकार जब हम

★

अपनेको आत्मा समझने लगेंगे, हम आत्मा ही हो जायँगे।

१८. जिस किसीको किसी इष्टदेवकी भक्ति आकृष्ट नहीं करती, उसके लिए एकाग्रता करनेका एक अच्छा अभ्यास यह हो सकता है कि वह किसी गुणको लेकर उसका ध्यान करे।

१९. एकाग्रताके अभ्यासका योग, मनको स्थिर करनेका ध्यान, मस्तिष्कके जीवाणुओंके वर्धनमें सहायक होता है और इस प्रकार भविष्यमें ऊंचे प्रकारके चिंतनके लिए साधन तैयार हो जाता है।

२०. यह भी एक अच्छा उपाय है कि सदा मनमें कोई सद्विचार, कोई मंत्र या उच्चादर्श रखें। दैनिक जीवनके संघर्षमें प्रवेश करनेसे पहिले हमें मनको उच्च विचारके रूपमें एक अंगरक्षक दे देना चाहिए।

२१. अपनेमें पवित्रता लानेका अभ्यास किस प्रकार किया जाय? प्रातःकालीन ध्यानके समय, पवित्रताको अपने चिंतनका एक विषय बनाकर, पवित्रता क्या है, यह मनन करे। अपवित्र विचारका स्पर्श ही न होने दे, अपनेको अपवित्र कर्मसे भ्रष्ट कदापि न करे।

२२. अपने मनमें आनेवाले विचारोंका निरीक्षण करो,

देखो कि जब ये विचार आये, तो क्या थे और जब वे मनसे निकले, तो किस रूपमें—उन्हें ग्रहण करके तुमने स्वयं उनमें क्या जोड़ा।

२३. हमारे विचारके अनुकूल द्रव्यसे हमारा मनोमयशरीर बनता है, अपनी मनकी शक्तियोंका अभ्यास करके, अपनी कलामय वृत्तियोंकी उन्नति करके, अपने उच्च-मनोभावोंका उत्कर्ष करके हम निरंतर अपने मनोमय शरीरका निर्माण करते रहते हैं और यह कार्य प्रति-क्षण, प्रति-दिन, प्रति-मास और प्रति-वर्ष, जीवन भर होता रहता है।

२४. जो कार्य कर रहे हो, उसीपर अपने मनको एकाग्र करो और जब कार्य कर चुको, तो उसे बिल्कुल मनसे दूर कर दो। यह अभ्यास कुछ महीने करो और तुम्हें आश्चर्य होगा कि मनके एकाग्र करनेका कार्य कितना सरल हो जाता है।

२५. एक विचारसे दूसरे विचारको दूर करनेका अभ्यास भी अत्यन्त उपयोगी हो सकता है। यदि किसीके प्रति अशुभ और अहितकर विचार मनमें आते हैं, तो तुरंत उस व्यक्तिके किसी गुणका ध्यान करो, उसके किसी सत्कार्यका चिंतन करो।

२६. दूसरोंके विचार हमारे मनको स्पर्श करें, यह हम



रोक नहीं सकते, किंतु यह हमारे वशकी बात है कि उनमेंसे किन विचारोंको हम ग्रहण करें और किन्हें नहीं। हमपर औरोंका प्रभाव पड़ता ही है और हम भी दूसरोंपर प्रभाव डालेंगे ही; किंतु यह हमारा प्रभाव हानिकर भी हो सकता है और हितकर भी और स्वयं हम भी उनके बुरे प्रभावसे या भले प्रभावसे प्रभावित हो सकते हैं। इसका चुनाव हमारे वशकी बात है।

२७. यदि तुम अपने मनोमय देहमें उन गुणोंके अस्तित्व की कल्पना करो जिनका तुम वर्धन चाहते हो और उन दोषोंके अभावकी कल्पना करो जिन्हें तुम दूर करना चाहते हो, तब तुम्हारा आधा कार्य तो पूरा ही हो चुकेगा।

२८ अपने मनको उपयोगी और शुभ विचारोंसे पूर्ण रखनेका परिणाम यह होगा कि उसी प्रकारके सद्विचारों को तुम्हारा मन आसपासके विचारोंमें से आकृष्ट करेगा; बुरे विचारोंको आश्रय न देनेसे, वे कुत्सित विचार अपने आप तुम्हारे मनसे दूर रहेंगे।

२९. जब साधक इस बातको जान लेता है कि अपने विचारों द्वारा वह दूसरोंके जीवनको उन्नत या अवनत कर सकता है। तब वह सचेतन रूपसे मानवजातिकी उन्नतिमें सहायक होने लगता है, अपनी पहुँचके भीतर के सभी प्राणियोंके विकासमें वह योग देने लगता है।

३०. यदि हम सबल, सप्राण, सक्रिय और उच्च विचारों के प्रति ग्रहणशील मनोमय-देहका निर्माण करना चाहते हैं, तो हमें निरंतर सद्विचारोंका अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि हम स्वयं अपना निर्माण करते हैं और हमारे मनका संगठन हमारे ही विचारों द्वारा होता है।



८८---आचरणका संयम

जुलाई

सातवाँ अध्याय

१. अपने चरित्रगठनमें साधक वाणीके संयमका अभ्यास करेगा, क्योंकि सम्यक-वाणी पहिले तो पूर्णतया सत्य होनी चाहिए, केवल साधारण सांसारिक रीतिसे सत्य नहीं, यद्यपि वह भी अवहेलनाकी वस्तु नही है, वरन् योगविद्याके साधककी दृष्टिसे सत्य—निरीक्षणमें सत्य, ग्रहणमें सत्य, चिंतनमें सत्य, वाणीमें सत्य और कर्ममें भी सत्य।

२. तो पहिली बात वाणीमें सत्यता, फिर नम्रता, सत्यता और नम्रतामें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। पूर्णतया नम्र, शिष्ट तथा करुणाशील होनेसे वाणीकी सत्यता नष्ट नही होती।

३. और सत्य विचार तथा सत्यवचनसे सत्य और सम्यक कर्मकी उत्पत्ति स्वभावतः होगी। सत्य उद्गमसे सत्यका ही प्रवाह होगा।

४. संसारमें बहुतसे छोटे-छोटे काम हमें करने पड़ते हैं,

परन्तु महत्व उन कामोंका नहीं है, उनके करनेके ढंग का है। कार्य करनेके ढंगमें ही शिष्यकी शिक्षा होती है, किस भावसे कार्य किया जाता है, किस प्रकार उसे करनेमें शक्तिका प्रयोग होता है, और क्या तुम उससे सीखते हो।

५. अपने जीवनको संयत बनानेमें ध्यान रहे कि तुम आसपासके लोगोंके लिए कठिनाई न उत्पन्न करो और ऐसे साधन और आत्म-संयमके अभ्यास आरंभ न करो जिनसे केवल तुम्हारी शिक्षा होनेके बदले दूसरोंके लिए कष्ट और कठिनाई उत्पन्न हो जाय।

६. साधकको अपने मनको शुद्ध बुद्धि द्वारा संयत बनाना चाहिए और जिस प्रकार इन्द्रियोंको शांत किया है, वैसे ही मनको भी शांत बनाना चाहिए। प्रत्येक कार्यमें इन्द्रियोंका संयम और मनका शमन करना चाहिए। जब ये साधन कार्यमें परिणत किये जायँगे, तब साधक शांत मनसे आत्मदर्शन करने लगेगा।

७. साधक अपने शरीरको अपना नहीं समझता, वह तो उसे लोकहितके लिए ईश्वरका एक साधनमात्र समझता है, उसके सारे कार्य इष्टदेव द्वारा दिये हुए कर्तव्योंकी पूर्ति मात्र होते हैं। यदि वह भोजन करता है, तो स्वादे-न्द्रियकी तुष्टिके लिए नहीं, वरन् ईश्वरके साधनको कार्य



करने योग्य बनाये रखनेके लिए, यदि वह चिंतन करता है, तो चिंतनके आनंदके लिए नहीं, वरन् ईश्वरके कार्य को समुचित रूपसे संपन्न करनेके लिए। वह अपने जीवनको अपने इष्टदेवके जीवनमें निमग्न कर देता है और उसी उच्च जीवनसे संयुक्त होकर वह सोचता और कार्य करता है और अपने जीवनको उस बड़ी धाराकी एक लहर मात्र बना लेता है।

८. जब कर्मके फलकी इच्छा नही रहती, जब सब कर्म यज्ञ रूप किये जाते हैं, तो कर्ताको कर्मबंधन नहीं होता और उन कर्मोंके द्वारा वह जीवन-मरणके चक्रमें अधिक फँसता नही जाता।

९. मन, वचन और कर्ममें आत्म-संयम—इसी तीन तागेकी डोरीसे मनुष्य उस सेवाके साथ बँधा हुआ है; यही डोरी उसे गुरुदेवके चरणोंसे संबद्ध करेगी और फिर सहजमें न टूटेगी।

१०. साधकको कष्टका सामना करना होता है, किसी प्रिय जनका वियोग होता है या फिर उसीसे कोई गुरुतर अपराध हो जाता है। होने दो, यह तो पूर्वजन्मके चिंतन और कर्मका परिणाम है जिसे वह वर्तमानमें भोगता है। किंतु वह प्रियजन उससे सर्वथा बिछुड़ नहीं जाता, प्रेमसे वह उससे बँधा है, और भविष्यमें उससे फिर

मिलन होगा। तबतक उसे औरोंको जो, उसके निकट हैं, प्यार करना चाहिए, उनकी सेवा सहायता करनी चाहिए जैसे यह उस खोये हुए प्रियजनकी करता और वह अपने कर्तव्योंकी अवहेलना अब फिर कभी न करेगा, क्योंकि कर्तव्यकी अवहेलनाका ही फल दुःख और वियोग होता है।

११. जो हमारा कर्तव्य नहीं है, वह काम करके हम किसी दूसरेको अपना काम करनेसे रोकते हैं। यह कार्य केवल हमारे मिथ्या अभिमानका परिणाम है। हम बहुधा शक्तिसे बाहर काम करके अपनेको शारीरिक क्षति पहुँचाते हैं क्योंकि हम भूलसे समझते हैं कि केवल हमी इस कामको ठीक ठीक कर सकते हैं।

१२. जब सत्के दर्शन हो जाते हैं, तो असत् सर्वथा असंतोषजनक जान पड़ता है। जब शाश्वतका ज्ञान हो जाता है, चाहे फिर वह क्षण भरके ही लिए हो, तो क्षणिक वस्तुएँ प्रयासके योग्य नही जान पड़तीं।

१३. इसे ठीक ठीक समझ लो कि तुम्हें अपने कामका उतना निरीक्षण नहीं करना है, जितना अपने उद्देश्यका; जितना संभव हो समझदारी और बुद्धिमानीसे कार्य करो; अपनी समझ और चिंतन भर कार्य करनेके पहिले उसके औचित्यका विचार कर लो, परन्तु निश्चय जानो



कि जो व्यापक दृष्टि बाह्य कार्यको नहीं, हृदयके भीतरके भावको देखती है, वह संसारसे कहीं अधिक विवेकके साथ तुम्हारे कार्य और उद्देश्यका मूल्यांकन करती है।

१४. बाह्य कार्य किसी भूतकालीन विचार अथवा भावका परिणाम होता है; परंतु उस कार्यका उद्देश्य ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है।

१५. साधकको अपनेको कर्मफलसे विलग रखनेका अभ्यास करना चाहिए। उसे तो कर्तव्य समझकर कार्य करनेका अभ्यास करना चाहिए, उस कार्यसे निरंतर कुछ व्यक्तिगत लाभ उठानेकी चिंता उसे न होनी चाहिए।

१६. यदि विचार शुद्ध और सम्यक हो, तो उसका परिणाम-स्वरूप कार्य अवश्य पवित्र होगा। यदि विचारका संयम किया जाय, तो अनिवार्य रूपसे कार्य संयत और नियमित होगा।

१७. हमारे कार्योंका जैसा भला-बुरा प्रभाव हमारे आस-पासके लोगोंके जीवन पर पड़ता है, उसीके अनुसार अगले जन्मकी हमारी बाह्य परिस्थितियाँ बनती हैं। हम दूसरों के संपर्कमें आकर उनसे संबंध स्थापित करते हैं और इस प्रकार लाभ-हानिके द्वारा स्नेहके स्वर्ण या घृणाके लौह बन्धनमें बँधते जाते हैं।

卐

१८. उदासी, धाराके बीच बँधे हुए बाँधके समान है, और तुम्हें गुरुदेवकी जीवनधारामें बाँध नहीं बाँधना चाहिए। शिष्यके द्वारा गुरुदेवकी जीवनधारा निरंतर बहती रहती है। विचार और फिर कर्मका समुचित संयम, उचित, दयालु और स्नेहमय विचार और कर्म, यही हमारा धर्म होना चाहिए।

१९. समस्त विश्व करुणासे ओत-प्रोत है; आओ हम भी अपने भाई मानवको अपनी सीमित शक्तिके अनुसार उस करुणाका एक बुंद प्रदान करें। अपने बंधुकी सहायता करने और अपनी आवश्यकताओंको पीछे रखकर उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें तुम कभी पापके भागी नहीं हो सकते।

२०. सदा सर्वदा हमें दयालु, कोमल, धैर्यवान और सहायता पूर्ण होना चाहिए। हमारे दैनिक जीवनमें कठोरता न आनी चाहिए जिससे दूसरोंको घबराहट हो या उन्हें किसी प्रकारका भ्रम हो। संसारमें यों ही पर्याप्त कष्ट हैं। आध्यात्मिक पुरुषको तो सांत्वना और शान्तिका साधन बनना चाहिए। उसे प्रकाश-पुंज बनकर अपने सामीप आनेवाले लोगोंके पथको सरल बनाना चाहिए।

२१. ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जायगा, हमारी विवेक बुद्धि तीक्ष्ण होती जायगी। ज्यों-ज्यों हम अपने ऊँचेसे

ऊँचे भावके अनुसार कार्य करते जायँगे, त्यों-त्यों हमारी दृष्टि और भी उज्ज्वल और स्पष्ट होती जायगी, हमारी श्रवण-शक्ति और भी ग्रहणशील होती जायगी।

२२. आरंभमें मनुष्य कर्तव्य-पूर्तिके रूपमें कार्य करना सीखता है, संसारके प्रति जो ऋण है उसे चुकाना सीखता है, प्रकृतिके भिन्न भिन्न भागोंसे जो कुछ उसे मिलता है उसके बदले कुछ देना सीखता है।

२३. सत्संकल्प करो और फिर तुम्हें किसी प्रकारके भय करनेकी आवश्यकता नहीं है। भूल तुमसे हो सकती है, तुम गलतियाँ कर सकते हो, तुम्हारे पैर लड़खड़ा सकते हैं और तुम बार-बार गिर भी पड़ सकते हो; परन्तु तुम शीघ्र ही फिर धर्मपथ पर आ जाओगे और अन्तमें शाश्वत शान्तिको प्राप्त होगे।

२४. जब जीवात्मा विकास-पथकी नीची श्रेणीमें रहता है तब ऐसे अनेक कार्य उसके लिए उचित और विकासमें सहायक होते हैं, जो आगेकी श्रेणीमें हानिकर हो जायँगे। जो कुछ हमें ऊपर उठाता है, उचित है; जो कुछ हमें पतनकी ओर ले जाता है, अनुचित।

२५. अब साधक उतावलेपनसे परिस्थितियोंको बदलनेकी चेष्टा छोड़ देता है, क्योंकि यह चेष्टा तो परिणामोंकी धारा

में नये कारण जोड़ती है। अब तो साधक अपनेको कर्ता न मानकर साधन अथवा प्रतिनिधि मात्र मानता है। वह उद्गम नहीं, एक प्रकारकी नलिका मात्र है; वह स्वयं स्वामी नहीं है, वह तो अब दैवी उद्देश्यको समझकर उसीके अनुकूल कार्य करनेका प्रयत्न करता है।

२६. संघर्षके मध्यमें उसे शान्तिस्वरूप भगवानका आश्रय ग्रहण करना चाहिए, और अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिए, फलकी इच्छासे नही, वरन् केवल इसलिए कि उसे कर्तव्यकी पूर्ति करनी है।

२७. एक समय आयेगा जब साधक कह सकेगा 'भला या बुरा, यह स्वर्गमें ले जाय या नरकमें, मुझे तो इस अन्तर्वाणीके अनुकूल कार्य करना है। अन्तर्वाणी यही मेरी सर्वोत्तम पथप्रदर्शक है, यदि आज मुझे गलत आदेश देती है तो आगे चलकर भूलके परिणाम-स्वरूप कष्ट सहन करके मैं उचित पथको प्राप्त होऊँगा।"

२८. अपनी बुद्धि भर सोच समझकर निर्णय करो, और जब एक बार निर्णय कर चुको, तो कार्य करो, क्योंकि जो कुछ तुम कर सकते थे, तुमने किया। फिर उस कार्यके परिणामका निरीक्षण करो और देखो कि तुम्हारे निश्चय का परिणाम क्या हुआ। परिणामको देखकर तुम जान सकोगे कि तुम्हारा निर्णय ठीक था या नही। यदि निर्णय

में भूल थी, तो पश्चात्ताप न करो। तुमने यथाशक्ति सोच समझकर कार्य किया, तुमने एक नया अनुभव प्राप्त किया और यह भूल तुम्हें आगेके लिए सहायक सिद्ध होगी।

२९. तुम्हें कार्य तो करना ही है। अपनी बुद्धिसे काम लो और जहाँ तक विचार कर सको, सोच विचार लो। फिर अपनी आंतरिक इच्छा द्वारा प्रेरित पक्षपातसे अपनेको अलग करनेकी चेष्टा करो। अपने व्यक्तिगत हानि-लाभके विचार छोड़ दो, जो कुछ तुम्हें किसी ओर झुकनेको प्रेरित करे उसे अलग रख दो, और फिर निष्पक्ष भावसे कार्य करो।

३०, परीक्ष्यमाण शिष्यसे अभ्यासके आरंभमें ही सब कुछ पूर्णतया ठीक प्रकारसे करनेकी अपेक्षा नहीं की जाती। उससे प्रयत्न करनेकी अपेक्षा अवश्य की जाती है, पर पूर्ण सफलताकी नहीं। यदि वह अपने प्रयत्नमें सदाशयता से काम लेता है, यदि वह जमकर प्रयत्न करता है, अपने लक्ष्यको आँखोंसे ओझल नहीं होने देता और अपने निश्चयको बदलता नहीं, तो यह चेष्टा और प्रयत्न पर्याप्त है।

३१, जिस प्रकार एक वाद्यवृन्दका प्रत्येक सदस्य अपने वाद्य यंत्रका स्वर सबके साथ सुसंयत रखता है, उसी प्रकार तुमको अपने भिन्न-भिन्न देहोंको इस प्रकार सुसंबंधित रखना चाहिए कि ऊँचे लोकोंसे नीचे लोकों तक उन देहोंके द्वारा ऊँची शक्तियोंका अवतरण हो सके।

卐

उपरति—उदारता

१ एक साधारण-सी बातको ले लो, यह बड़ी व्यापक बात है और यों तो बड़ी मामूली बात भी है—अपनेसे भिन्न रग वालोंके प्रति द्वेष अथवा तिरस्कारकी भावना। यदि जगद्गुरु काले रंगके शरीरमें अवतीर्ण हों, (या यदि तुम स्वयं श्यामवर्णके हो और गुरुदेव गोरी जातिका शरीर ग्रहण करें,) तो क्या तुम उस शरीरमें जगद्गुरुको पहचानने, उनका सम्मान करनेको प्रस्तुत हो? यदि काले शरीरमें वे आवें तो कदाचित् दक्षिणी अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया या कैनाडामें उनका प्रवेश भी वर्जित हो। ऐसे ही पक्षपातने तो यहूदियोंको अपनीही जातिमें प्रकट होनेवाले क्राइस्टको पहचाननेसे रोक दिया था।

२. अपने निचले स्वभावके द्वाराही हमें अपने बंधुकी सहायता करनी है, इसलिए उसकी सहायता करनेकी सबसे सरल रीति यह है कि उसीकी दृष्टिसे हम वस्तुओं को देखनेका प्रयत्न करें, उसीकी संकीर्णता, उसीकी विकृत दृष्टि, उसीके पक्षपातसे वस्तुओंको देखें और समझें; और फिर अपने निचले मनमें उसीकी तरह प्रभावित



होकर उसीके ढंगसे उसकी सहायता करें, अपने ढंगसे नहीं; इसी प्रकार सच्ची सहायता की जा सकती है।

३. गुरुदेवका कहना है कि तुम्हें दूसरोंके धर्म-मत और सिद्धान्तोंका अध्ययन करना चाहिए ताकि तुम उनकी सहायता कर सको। बिना उनको समझे तुम उनकी सहायता नहीं कर सकते।

४. हमें ज्ञान इसलिए प्राप्त करना चाहिए, कि उससे हम दूसरोंका हित कर सकें, और तुम मानवहृदयको सहानुभूति के द्वारा ही स्पर्श कर सकते हो, यह तभी हो सकता है, जब तुम उनकी दृष्टिकोणसे बात कर सको, अपने ही मत पर अडिग रह कर नहीं।

५. सचमुच सहिष्णु पुरुषका यही चिन्ह है कि वह वस्तुओं को दूसरोंकी दृष्टिकोणसे देख सके, उन्हींकी दृष्टिकोणसे उन वस्तुओंके संबंधमें बात कर सके और इस प्रकार दूसरोंकी सहायता कर सके।

६. अपने निजी आदर्श ऊँचे रखो, किंतु दूसरोंके संबंधमें अपने विचार और अपनी दृष्टि उदार रखो। तुम्हारे आदर्श तुम्हें ऊपर उठायेंगे और तुम्हारी उदारता तुम्हारे पतित बंधुको प्रेरणा देगी। पददलित होकर कोई कभी ऊँचे नहीं उठा है; प्रेमके द्वारा उत्साहित होकर ही कोई

ऊँचे उठता है और अपने पापों और भूलोंसे छुटकारा पाता है। जैसा व्यवहार हम अपने भाइयोंके साथ करेंगे, वैसाही व्यवहार हमारे बाह्य स्वरूपोंके प्रति हमारे ज्येष्ठ बंधु महात्मागणका होगा।

७. जो कोई धर्मांध है, संकीर्णहृदय है, अनुदार है, वह उस पथमें प्रवेश नहीं पा सकता जिस पथकी खोजमें हम लोग हैं।

८. सच्ची उदारता तो इस अनुभवसे आती है कि सबके हृदयमें उसी आत्मतत्त्वका निवास है, जो अपने पथको जानता है और अपने स्वभावके अनुसार आगे बढ़ता है; सर्वव्यापी आत्माकी पहचान, सबमें दैवी संकल्पकी पूर्तिकी दृष्टि, न किसीको बरबस किसी पथ पर लेजाने की चेष्टा, न किसीके मार्गमें बाधा डालनेका प्रयत्न।

९. उदारताका अर्थ है, अपने विश्वास पर दृढ़ रहना, दूसरोंको उसका भागीदार बनानेको तत्पर रहना, पर किसी पर बरबस अपना विश्वास लादने या किसीका विरोध करनेकी सर्वथा अस्वीकृति।

१०. उस उदारताका अभ्यास करो, जो प्रत्येक व्यक्तिको अपने स्थान पर अपने करने योग्य कार्य करनेमें सहायता, जो उसके स्वाभावानुकूल उसका धर्म है, उसीके

करनेमें उसका सहायक हो। उसे उसीके स्थान पर रहने दो और वहीं उसकी सहायता करो।

११. जो कुछ अपने आसपास है या हो रहा है, उदारता और सहनशीलताके साथ उसकी सहर्ष स्वीकृति; धैर्य के साथ शान्त बने रहना, हर एक बातको समझकर संतुष्ट रहना, और किसीसे भी उसकी शक्तिसे अधिककी अपेक्षा न करना।

१२. तुम्हारे सच्चे सहायक वे नहीं हैं, जो तुमसे सहमत होते रहते हैं, सहायक तो वे हैं, जो तुमसे मतभेद रखते हैं। जब अपनी ही सी सम्मतिवालोंके साथ तुम रहतेहो, तो तुम अपनेको सबल अवश्य अनुभव करते हो, किंतु अधिक सत्यताके साथ विचार करना तुम तभी सीखते हो, जब तुम उन लोगोंके साथ रहते हो जिनका तुमसे मतभेद है। यदि तुम उनसे खीझो नहीं, यदि वे तुमको चिढ़ा न सकें, तो तुम उन्हें अत्यंत उपयोगी शिक्षकके रूपमें पाओगे।

१३. सच्ची उदारता तो यह है कि सभीमें विशुद्ध आत्माके दर्शन करना और इस बातकी तनिक भी इच्छा न करना कि उस आत्माके अपनी शक्तियोंके उन्नत करनेमें किसी भी प्रकारका हस्तक्षेप किया जाय। तुम्हारा संबंध तो प्रत्येकसे उस आत्माकी सहायता करनेका

होना चाहिए, नकि जबर्दस्ती ढकेलने, दबाने या रोकनेका ।

१४. यह उदारता तो दूसरेके व्यक्तित्वका सम्मान है; और यह दूसरेके व्यक्तित्वका सम्मान उन लोगोंका चिन्ह है जो आध्यात्मिक जीवनमें बढ़े-चढ़े हैं ।

१५. यदि तुम्हें किसी सिद्ध पुरुषके सम्पर्कका सौभाग्य प्राप्त हो, तो तुम देखोगे कि ये महा-पुरुष किस विचित्र धैर्य के साथ उन सबकी असमर्थताका सम्मान करते हैं, जिन साधारण लोगोंसे वे संपर्कमें आते हैं । वे उन्हें जबर्दस्ती आगे ढकेलनेकी तनिक भी इच्छा प्रकट नहीं करते, न उनके विचारों पर किसी प्रकारका आधिपत्य प्राप्त करते हैं, और न उनसे अपने दृष्टिकोणको ही स्वीकार करानेकी चेष्टा करते हैं; वे तो निरन्तर उन्हें समझने, उनके दृष्टिकोणसे देखने, तथा उनके विचार-शैलीका सम्मान करने ही में संलग्न रहते हैं ।

१६. प्रत्येक योगाभ्यासी बननेकी आकांक्षा रखनेवाले साधक को अपने परिवार तथा आसपासमें इस प्रकारका व्यक्ति होना चाहिए कि प्रत्येक दुःखी प्राणी, प्रत्येक चिताग्रस्त व्यक्ति, प्रत्येक पापसे परितप्त मनुष्य, सहज ही उसके पास सहायता, सहानुभूति, और सांत्वना पानेके विश्वास से आ सके । अत्यंत आकर्षण-हीन, मन्दबुद्धि, अत्यंत



घृणित भी यह अनुभव करे कि कमसे कम उसके पास जा कर उसे एक मित्र और सहायक प्राप्त होगा।

१७. हमारी थिओसॉफिकल सोसायटीमें स्वतंत्रताका पथ सदा उन्मुक्त रहना चाहिए। हमारे बीचमें, यदि हम संसारकी सेवा करना चाहते हैं, किसी प्रकारकी विचारों की संकीर्णता नही आनी चाहिए, सत्यके किसी रूप विशेषको स्वीकार करनेके लिए किसीको बाध्य नहीं किया जाना चाहिए, हमे यह न भूलना चाहिए कि बहुत सी भूलें करनेपर भी किसी व्यक्तिको किसी एक सत्यकी झलक मिल सकती है, जिस ओर उससे कही ऊँचे विचारकोंका ध्यान भी न गया हो।

१८. यह विचार-स्वातंत्र्यकी, उदारताकी अति नहीं हो सकती। कुछ लोग समझते है कि इस उदारतासे चिंतन-क्रममें ढीलापन आ सकता है, परंतु बात ऐसी नहीं है। जो लोग अत्यंत सच्चाईसे ठीक ठीक विचार करते हैं और अपने समझे हुए सत्य और तथ्यको दृढ़तासे ग्रहण किये रहते हैं, वेही अपनी बुद्धि और पहुँचकी सीमाओंको स्वीकार करते हैं और इसीलिए दूसरोंके चिंतनपर किसी प्रकारकी रोक-थाम नहीं लगाते।

१९. संसार तो विविधतासे ही बनता है, हमारी आपकी पसंदकी ही बातोंसे दुनिया नहीं बनती। सभी प्रकारके

गुण चाहिये और इसी विविधताके कारण कभी कभी बड़ी विरोधाभासकी बातें देखनेमें आती हैं। किंतु ये सभी आत्माके ही स्वरूप हैं और नवविधानके निर्माणमें इन सबका अपना अपना स्थान है।

२०. उदारताके अर्थही यह हैं कि सभीमें स्थित दिव्य आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया जाय और उससे यह अपेक्षा न की जाय कि हमसे पूछकर उसके विकास और प्रगतिका ढंग निश्चित हो। प्रत्येकके हृदयमे स्थित ईश्वर उसकी उन्नतिके मार्गको जानता है और उसे हमारी सम्मतिकी आवश्यकता नहीं है कि उसीके अनुसार सोचे, कार्य करे, और आगे बढ़े। उदारताका अर्थ है कि हम यह अनुभव करें कि प्रत्येकके भीतरका दिव्य आत्मा यह जानता है कि उसे किधर जाना और किस प्रकार अपने निचले शरीरोंका परिचालन करना है।

२१. किसीकी निंदा योगाभ्यासी कदापि न करेगा; जिन जिन बातोंको वह स्वयं पीछे छोड़ चुका है, जो रस्म रिवाज अब उसके लिए निरर्थक हैं, उनकी भी वह तिरस्कारपूर्ण चर्चा न करेगा। वह तो यह जानता है कि ज्ञान एक ही है, बाह्यरूप अनेक हो सकते हैं। आत्माका भोजन तो शुद्ध ज्ञान है; बाह्यरूप तो शरीरके अभ्यासके लिए, उसके शिक्षणके लिए हैं।



२२. सहिष्णुता सब लोगोंकी सब बातोंको सहनशीलताकी दृष्टिसे देखती है और समस्त भूलोंको क्षमा करती है। वह तो मनुष्यके आभ्यंतरिक रूपको देखती है, उसकी उच्चाकांक्षाओं और उद्देश्यों पर दृष्टि रखती है, उन आकांक्षाओं के बाह्य प्रकट विद्रूपोंकी चिंता नही करती।

२३. सभी धर्ममतों और विश्वासों, सभी रस्म-रिवाजों और मानवकी भिन्न-भिन्न परंपराओं और परिपाटियोंको उदारता और सम्मानकी दृष्टिसे देखनेका साधक अभ्यास करता है।

२४. उस उदारताका अभ्यास करो जो किसीसे घृणा नहीं करती, चाहे कोई कितनाही पापी क्यों न हो। वह तो सभीमे ईश्वरत्वको प्रकट होनेके प्रयत्नमें संलग्न देखती है और सभीकी सहायताके लिए प्रस्तुत रहती है।

२५. अपने बंधुकी दृष्टिकोणसे सत्यको देख सकनेके लिए सदैव प्रयत्नशील रहो। वह सत्य चाहे आरंभमें तुमको अनाकर्षक जान पड़े, यदि तुम्हें वह भ्रम और भूलही क्यों न जान पड़े, फिर भी धैर्यके साथ उसे समझनेकी चेष्टा करो। तुम्हे शायद यह पता चले कि एक ऐसा पहलू सत्यका उस बंधुने देखा है जिसे तुम न देख पाये थे। कभी कभी लोग कहते हैं कि मैं आवश्यकतासे अधिक सहिष्णु हूँ। आवश्यकतासे अधिक सहिष्णु कोई होही नहीं सकता।

२६. हमें इस प्रतिद्वंद्वितासे सहयोगमें प्रवेश करना है, संघर्षसे बंधुत्वकी ओर जाना है। हमें उन्हीं कार्योंमें संलग्न होना चाहिए जो एक दूसरेको समीप लाते हैं, जो विरोधकी भावनाको जन्म नहीं देते। हम प्रेमकी बाँधनेवाली शक्तिके लिए प्रयास करते हैं, घृणा और द्वेष की विरोधोत्पादक शक्तिके लिए नहीं।

२७. पापका पक्ष-समर्थन तुम कदापि न करोगे; जो असत्य है, अन्याय है, उसे सत्य अथवा उचित कदापि न बताओगे; तुम अशिवको कभी शिव समझनेका नाट्य न करोगे, क्योंकि यह तो महा अनर्थ होगा और मानव-जातिकी उन्नतिमें बाधक होगा। परंतु पापको पाप स्वीकार करते हुए भी, तुम पापी पर क्रुद्ध न होगे। उसकी और तुम्हारी आत्मा वास्तवमें एक है, उससे किसी प्रकारकी विलगता, भेद, तुम स्वीकार न करोगे।

२८. लोग क्या ईश्वरका अनादर नहीं करते जब वे यह दावा करते हैं कि ईश्वरने केवल उन्हींके धर्म-मतके लिए अपने को सीमित कर रखा है? यह ईश्वरके प्रति बड़ा भारी अन्याय है, यदि कोई यह कहे कि केवल उसीकी वेदी, उसीके मंचपर ईश्वरके आशीर्वादकी वर्षा होती है और ईश्वरकी अन्य सभी संताने उसकी अनुकम्पासे वंचित रहती हैं।

★

२९ यदि यह एकात्मता प्राप्त हो जाय, तो धर्म-परिवर्तन बंद हो जाय, कोई किसीको एक मतसे दूसरेमें दीक्षित करनेकी चेष्टा न करे, दूसरोंसे शिक्षा एवं ईश्वरके अन्य साक्षात्कारके मार्ग ग्रहण करनेका लोग प्रयास करने लगें। सभी धर्म विविध रंगोंकी किरणें हैं और सबके समन्वयमें ही शुद्ध ज्योतिके दर्शन होते हैं। जब तक हम अपनेको अलग समझते रहते हैं, हम एक रंग-विशेषमें ही रंगे रहते हैं।

३० आओ, सभी धर्मोंका अध्ययन करें और सबका आदर करें; इसी प्रकार हम उस स्रोतके समीप पहुँचेंगे जहाँ सबका उद्गम है और जहाँ सब लय भी होंगे।

३१. हमें ईश्वरीय दया और प्रकाशकी नलिका बनना चाहिए, परंतु हमें इस बातको अस्वीकार न करना चाहिए कि और लोग भी इसी प्रकारकी नलिकाएँ हैं और दैवी जीवन और प्रेम ठीक उसी प्रकार उनके द्वारा भी प्रवाहित होते हैं जैसे हमारे द्वारा। तब शांतिका उदय होगा और विरोध नष्ट हो जायगा, तब एकता और समन्वयका उदय होगा, जो समन्वय सर्वथा समरूपतासे कहीं बढ़कर है।

तितिक्षा या सहनशीलता

सितम्बर

नवाँ अध्याय

१. जब तुम्हारी सारी भीतरी प्रकृति, एकाग्र होकर, अपने स्वयं निश्चित किये हुए आभ्यंतरिक पथ पर अग्रसर होती है, फिर चाहे उस पथ पर कष्टोंका सामना करना पड़े या सुखकी प्राप्ति हो, चाहे निचले जगत्‌में उसके द्वारा हानि हो या लाभ, तब समझो कि तुम आत्मिक संकल्प-शक्ति द्वारा प्रेरित हो रहे हो ।

२. जिन कष्टों और परीक्षाओंमें होकर तुम्हें गुज़रना होता है, उन्हें सहन करते हुए अपनेमें तितिक्षाको दृढ़ करो; कष्टोंकी तो तुम पर वर्षा ही होगी, क्योंकि तभी तो अपने पूर्व कर्मोंको भोगकर सेवा करनेके योग्य हो सकोगे ।

३. दुःखोंको वरदान समझो, अभिशाप नहीं; यह तो इस बात का सूचक है कि कर्मके देवताओंने तुम्हारी पुकार सुन ली है और तुम्हें पूर्व कर्मोंको शीघ्रतासे भोगकर, अधिक गतिसे उन्नतिके पथ पर अग्रसर होनेका अवसर दे रहे हैं ।



४. फिर तो तुम प्रसन्नमन अपने कृतकर्मके फलका सहन करोगे, खीझ और असंतोषके साथ नहीं। प्राचीन कालमें अपने धर्म-सिद्धांतके लिए चिता पर चढ़ाये जानेवाले शहीद हँसते-हँसते चिता पर चढ़ते थे और चिताको अपने इष्टदेव तक पहुँचनेका आग्नेयरथ समझते थे।

५. यदि वह शोक और वेदना जिससे तुम भय खाते हो तुम्हें झेलनी पड़ती है, तो स्मरण रखो कि करुणापूर्ण रक्षाके हाथ ही तुम पर यह कष्ट पड़ने देते हैं और वीरतासे उनको सहन करके तुम अपने मोक्षको निकट ला रहे हो।

६. जिस किसीको ऊँचे उठनेकी आकांक्षा है, वह अवश्य ऊपर उठेगा; जिस किसी हृदयमें प्रेम है, वह कभी परित्यक्त नहीं रह सकता। कठिनाइयोंका तो अस्तित्व ही इसलिए है कि उनपर विजय प्राप्त करके हम शक्ति-संचय करें; और दूसरोंका त्राण वे ही कर सकते हैं जिन्होंने स्वयं कष्ट सहन किया है।

७ दुःखको लोग अभिशाप मानते हैं, दुःख अवश्य ही मनोरंजक नहीं है, कष्टप्रद है; किंतु वह अभिशाप नहीं है; दुःख वांछनीय है, अवांछनीय नहीं। दुःख पूर्णत्वकी प्राप्तिकी कसौटी है, बिना कष्ट-सहनके पूर्णत्व प्राप्त नहीं हो सकता।

८. तुम्हें क्या करना है इसका तुमने जब निश्चय कर लिया है, तो फिर उससे आगे न जानेके लिए भी दृढ़ संकल्प-शक्तिकी आवश्यकता होती है। ब्रह्मविद्याके अभ्यासी साधकके लिए यह आवश्यक है, क्योंकि अपनी शक्तिसे अधिक कार्य करनेका प्रयास करके, स्वास्थ्यकी हानि करने और इस प्रकार गुरुदेवकी सेवाके अयोग्य हो जानेका उसे कोई अधिकार नहीं है।

९. तितिक्षा, सहनशीलता अगला गुण है जिसका हमें अभ्यास करना चाहिए; जो कुछ पड़े उसे शांतिके साथ सहन करना, किसी प्रकार भी कष्ट सहनेके प्रति क्रोध अथवा असंतोषकी भावनाको न आने देना।

१०. इस तरह अंतरात्मा विरोध और असंतोषके भावको दूर करता है, किसी वस्तुके प्रति विरोधका न होना, मनुष्योंके प्रति, परिस्थितियोंके प्रति, आस पासकी सभी वस्तुओंके प्रति। क्यों? केवल इसलिए कि उसे सत्यका ज्ञान हो गया है, वह विश्वके नियमकी सत्ताको स्वीकार करता है।

११. वह जानता है कि जो कुछ कोई उसके साथ भला-बुरा बर्ताव करता है, वह उस विश्व-व्यापी नियमका साधन मात्र होकर। वह जानता है कि जो कुछ जीवनमें उसे मिलता है, वह उसीका अपना पूर्व संचित कर्म है। कोऊ न काहुक सुख दुख दाता, निज कृत कर्म भोग सब ताता।



१२. न्यायकी सत्ताको अनुभव करते हुए वह किसी बातसे क्रुद्ध नहीं होता, क्योंकि जो उसके अपने अंशका नहीं है, उसे मिल ही नहीं सकता, चाहे सुख हो या दुख। जो कुछ उसे मिलता है, वह उसीका अपना पूर्व-जन्मोंका ही अर्जित मिलता है।

१३. षट् सम्पत्तिमें यह चौथी सम्पत्ति तितिक्षाकी है, वह सशक्त सहन-शीलता जो सब कुछ सह सकती है, सत्यकी शोधमें सभी प्रकारके कष्टोंका सामना कर सकती है; भयकी आशंकासे कभी मनुष्य पीछे नहीं हटता।

१४. अनहद शब्द केवल नीरवतामें ही सुना जा सकता है; हृदयकी समस्त वासनाएँ निश्चेष्ट हो जायँगी, तभी मन और इन्द्रियोंके शान्त होने पर आत्माका प्रकाश होगा। एकाकीपनकी मरुभूमिमें ही सूर्यका प्रचंड प्रकाश होता है; वे सारी वस्तुएँ जो उसके प्रकाशमें बाधा डालने वाली हैं, नष्ट हो जानी चाहिए, जब अधकचरे देवता अंतर्हित हो जाते हैं, तभी भगवान प्रकट होते हैं। बाह्य देवता भी गुप्त हो जाने चाहिए, तभी अतःस्थित ईश्वर प्रकट होंगे।

१५. कष्ट तो बड़ी शिक्षा देते हैं। जीवनके अच्छेसे अच्छे पाठ सुखमें नहीं, दुखमें ही पढ़े जाते हैं।

१६. जो लोग अज्ञानावस्थामें कष्ट सहन करते हैं, उनकी दशा अवश्य ही दयनीय है, क्योंकि वे नही जानते कि उनके कष्टका कारण क्या है और क्या है उसका प्रयोजन। किंतु हम जो थोड़ा बहुत समझते हैं, और ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है और अधिक समझते जाते हैं, दयाके पात्र नहीं हैं। हमारे द्वारा तो औरोंको भी उत्साह और प्रेरणा मिलनी चाहिए कि त्यागके नियमकी महत्ताको जाने। यह यज्ञका, त्यागका नियमही आध्यात्मिक जगतका सबसे शक्तिशाली और ऊँचा नियम है।

१७. जितनाही सशक्त जीव होगा उतनाही कम प्रयास उसे सहन-शीलतामें करना होगा; जितनीही अधिक उसकी शक्ति होगी उतनाही कम कष्ट उसे बाहरसे आनेवाले प्रहार दे सकेंगे।

१८. सांसारिक बंधन तो कभी न कभी ढीला होगा ही। मित्रका स्नेहपूर्ण संपर्क खो जायगा किंतु संसार चाहे जितना बदल जाय, अदृश्य जगत्के सहायक हमारा साथ नहीं छोड़ते। इसलिए वीरताके साथ, साहसके साथ अंधकारके एकाकीपनमे कूद पड़ो और तब जानोगे कि एकाकीपनकी भावना तो भ्रम मात्र थी, उस अंधकार में तो वह प्रकाश छिपा है, जिसे एक बार पाकर जीवन में कोई फिर उसे नही खोता।

★

१९. धीरे-धीरे मानवकी निचली चेतनामें यह चेतना आ जाती है कि यद्यपि प्रयास करनेमें कष्ट होता है, वह कष्ट सहन करने योग्य है, उसका परिणाम श्रेयस्कर है; कठिनाइयों पर विजय पाना कष्ट-प्रद अवश्य है, किंतु जो शक्ति प्राप्त होती है, ऐसे आनंदका अनुभव होता है कि उसे पानेपर कष्ट तृणवत् जान पड़ता है।

२०. संसारकी समस्त शिक्षाओंको ग्रहण करना, अपने भीतर छिपे देवत्वकी समस्त सभावनाओंको विकसित कर लेना, जीवन-मरणके चक्रमें तब तक चलते चलना जब तक सभी पाठ पढ़ न लिए जायँ, और फिर सिद्ध पुरुष होकर अपरिपक्व मानवताकी सहायता करना, प्रत्येक जगत् से मानवताके सहायकोंकी मंडलीका उद्भव और इस प्रकार महान और अनंत विश्वके कार्य-क्रमका संचालन—यह है पुनर्जन्मका तात्पर्य।

२१. इसलिए दुःखको भ्रमसे अभिशाप कहा जाता है, यद्यपि दुःख और कष्ट मानवके लिए महान वरदान हैं, जिनकी सहायतासे वह क्षणिकसे विरक्त होकर शाश्वतमें अनुरक्त होता है।

२२. जब हम जीवनको समझ लेते हैं, जीवन सहज-सह्य हो जाता है। किंतु जब तक उसे समझ नहीं लेते, वह एक अत्यंत कष्ट-प्रद बोझ सा लगता है। जब उसे समझ लेते हैं, सारा दृश्यही बदल जाता है।

卐

२३. सहन-शीलता, वह सबल शक्ति जिसके द्वारा हम सब कुछ सह सकते हैं, निराशा और कठिनाईके होते हुए भी, हम सहन करनेके बदले उनपर विजय प्राप्त करते हैं, बाधाओंसे घबराते नहीं, उनको दूर करते हैं। यह सहन-शीलताका शौर्य, साधन-पथ पर चलनेकी आकांक्षा रखनेवालेके लिए अनिवार्य है।

२४. तुम्हें न केवल संसारके दुःखको अनुभव करके उसे अपना बना लेना है; तुम्हें तो अपने लिए उतनाही कठोर होना है जितने कोमल तुम दूसरोंके प्रति हो। यदि दुनियाके कष्ट तुम्हें—अपना लेने हैं तो तुम अपने कष्टोंपर समय खर्च कर ही नही सकते हो। यदि तुम्हें अपनेको संसारके कष्ट और दुःखसे एकीकृत कर लेना है, तो अपने निजी दुःख और कष्ट पर रुदन करनेके लिए शक्ति तुम्हारे पास कहाँ है?

२५. भक्तिसे कष्टका अंत हो जाता है। जो कुछ हम अपने प्रेमपात्रके लिए करते हैं, वह आनंदसे होता है, उसमें जो थोड़ाब हुत कष्ट होता है, वह उसी प्रेमपात्रके लिए सहन किया जानेके कारण उस आनंदमें घुल जाता है ··· जिसे एक बार आत्माके सौंदर्यके दर्शन हो चुके हैं, वह उससे एकीकृत होनेके लिए क्या क्या सानंद सहन न करेगा? वह तो उन तमाम वस्तुओं को जो उसके मिलन-पथमें बाधक हैं, सहजही बलिदान कर देगा।



२६. सहनशीलता प्राप्त करनी चाहिए क्योंकि जो इस कठिन साधन-पथ पर चलना चाहते हैं, उन्हें बहुत कुछ सहना पड़ेगा। बिना असीम कष्टसहनके अमूर्तके दर्शन हो ही नहीं सकते !

२७. यदि कष्ट अत्यंत दुःखद जान पड़े, तो विचार करो कि कितना कष्ट सचमुच शरीर अथवा मनको हो रहा है और कितना तुम पूर्वस्मृतिसे बढ़ा रहे हो। अधिकतर तुम्हारी कल्पना ही कष्टको बढ़ाचढ़ा देती हैं इसलिए जितना कष्ट वास्तवमें है, उससे अधिकका भान तुम्हें होता है। इसलिए अपनी कल्पना और मन द्वारा कष्टोंका स्वागत सहर्ष करो, सोचो कि यदि कहीं इससे भी अधिक कष्ट होता तो !

२८ यदि तुम इतने उदास न रहते, यदि इतने मलिन मुख न बनाते होते, यदि दुःखोंकी इतनी अधिक चर्चा न करते, यदि उनका इतना अधिक चिंतन न करते, यदि उन्हें कभी कभी हँस कर टाल देते, तो तुम देखते कि— तुम्हारे अनजाने ही वे कष्ट सर्वथा विलीन हो गये हैं।

२९, हमारे चारो ओर दीवारें गिर रही हों, पर वे फिर उठायी जा सकती हैं और कदाचित् पहिलेसे अधिक पुष्टताके साथ; आस-पासके भवन गिर रहे हों, पर वे पुराने जर्जर हो गये हैं, और उनके स्थान पर अधिक

सुंदर भवन बनेंगे। मानवताके लिए निराशाका तो कोई कारण ही नहीं है, क्योंकि सभी ओर मानवता क्रमशः देवत्वमें परिणत हो रही है।

३०. उसे अपने प्रति कठोर होना चाहिए, क्योंकि उसे मानव और दुःखके बीच खड़ा होना है; उसे तो स्वयं प्रकाशित तारेके समान हो कर प्रकाश देना सभीको है, पर लेना किसीसे नहीं। वह तो उस हिमके समान है जो आसपासके वायुमंडलसे तुषारको एवं प्राणघातक ठंढकको अपनेपर ले लेता है और इस प्रकार बीजों और अंकुरोंकी शीतसे रक्षा करता है और तभी वे अंकुर ऋतु आने पर उग और बढ़ सकते हैं।



श्रद्धा

अक्टूबर

दसवाँ अध्याय

१. उस प्रत्येक जीवात्माके लिए, जो सत्यके प्रति निष्ठावान है, इसी जन्मके या किसी आगामी जन्मके अंधकारमें सूर्यका उदय होगा; प्रत्येक जीवात्माको, जिसने उस प्रकाशको, जिसे वह मिथ्या जानता है, त्याग कर अंधकारमें ही रहना स्वीकार किया है, श्रद्धा और ज्ञान का संयुक्त प्रकाश प्राप्त होगा। इसकी कोई चिंता नहीं कि यह प्रकाश इसी थोड़े दिनोंके जीवनमें प्राप्त हो या न हो, हाँ, यह आवश्यक है कि अविश्वासके चपेटमें पड़ कर भी जीवात्मा सत्य और सात्विकताके प्रति निष्ठावान बना रहे और पुण्य तथा मानवके प्रति प्रेममें उसकी श्रद्धा अक्षुण्ण बनी रहे।

२. आध्यात्मिकताको सक्रिय बनाना है और जीवात्माकी उन्नतिमें सहायता देना है; हृदयकी वेदी पर प्रज्वलित होनेवाली उस दैवी अग्निको पूर्णरूपसे प्रज्वलित करना है, जिसमेंसे जीवात्मा अग्निके स्फुल्लिंग रूपमें प्रकट हुआ है और जिससे सचेतन एकात्म्यके लिए वह लालायित है।

卐

३. यह सत्य आज भी सदाके ही समान लागू है कि कर्तव्यकी पूर्ति करनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है और जैसा आज संभव है, वैसा आजसे पहिले किसी युगमें कदाचित् ईश्वरके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना संभव न था।

४. हममें से कुछ लोगोंके लिए, ये सिद्ध पुरुष, गुरुदेव गण, जिनके अस्तित्वसे हम परिचित हैं, एक अक्षय प्रेरणाके भंडार हैं। ज्यों ज्यों हम अपने जीवनको परिष्कृत करते जायेंगे, हमें उनका संपर्क प्राप्त होता जायगा, ज्यों-ज्यों हम उनकी दी हुई शिक्षाओंका सक्रिय अभ्यास करते जायेंगे, हमें और भी अधिक शिक्षा प्राप्त होगी।

५. तुममेंसे जो ईसाई हैं, उन्हे अपने धर्मके प्रति अविश्वास न करना चाहिए; भगवान क्राइस्टको अंधश्रद्धा मात्रकी वस्तु न समझ कर उनके आज भी जीवित अस्तित्वको जानना चाहिए। नाम कुछ भी हो, स्मरण रखो कि आदर्श एक ही है; भिन्न भिन्न नामोंसे एक ही विचारका तात्पर्य निकलता है; जगद्गुरु, बोधिसत्व अथवा क्राइस्ट, इनमें कोई अंतर नहीं है।

६. श्रद्धा या विश्वास, कुछ भी कहो, स्वयं अपनेमें और अपने गुरुदेवमें पूर्ण आस्था, पूर्ण निष्ठा आवश्यक है।

७. जिस प्रकार आप आँखोंसे देख सकते हैं, कानोंसे सुन

सकते हैं, ठीक उसी प्रकार आप ईश्वरका अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि आप ईश्वरके अंश हैं; आप ईश्वरको जान सकते हैं क्योंकि आपकी और ईश्वरकी प्रकृति एक ही है।

८. बड़े-बड़े आध्यात्मिक द्रष्टा भी मानवीय भाषामें उस दिव्य साक्षात्कारका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं; जिससे उनकी आँखें चौंधिया जा रही हैं। फिर हम साधारण मानव किस प्रकार हमारे ही समान अपरिपक्व बुद्धिके अन्य नर-नारियोंके श्रद्धाकी आलोचना कर सकते हैं?

९. अपनी संभावनाओंमें श्रद्धा, आत्म-विश्वास, वास्तवमें ईश्वरके ही प्रति श्रद्धा और विश्वास है, क्योंकि इस आत्म-विश्वास, इस आत्म-श्रद्धाका उद्गम मानवकी उच्च दृष्टिमें है; मानवके भीतर स्थित ईश्वरके अस्तित्वके ज्ञानसे ही यह श्रद्धा उत्पन्न होती है।

१०. श्रद्धा बुद्धिसे परे है; क्योंकि यह तो आत्माकी अपने ही समक्ष दी हुई साक्षी है; यह तो आत्माके अस्तित्व का ज्ञान है, जिस आत्माका एक बाह्य व्यक्त रूप बुद्धि है और यह आंतरिक ज्ञान ही सच्ची श्रद्धा है क्योंकि अपने ही अस्तित्वका हमको निःसंशय ज्ञान है।

११. योगका लक्ष्य है उस आत्मासे निरन्तर सान्निध्य प्राप्त

करना; केवल क्षणमात्रके लिए अंतर्बोध द्वारा उसकी झलक भर पाना नहीं, बल्कि बराबर, अडिग रीतिसे आत्माका अनुभवजन्य ज्ञान। जब यह ज्ञान हो जाता है, तो फिर मानवके हृदयमें यह प्रश्न उठता ही नहीं कि ईश्वर है या नहीं।

१२. योगीके लिए अपनी अंतःसाक्षीके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाण ईश्वरके अस्तित्वका नहीं है; उसके अनुसार ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाण पानेका मार्ग यही है कि अपनी चेतनाको सीमित करनेवाले बंधनोंको ध्वस्त कर दिया जाय और शुद्ध चेतनाका अनुभव होने लगे, केवल निर्वाणलोकीय तत्वका एक पतला पर्दा शेष रह जाय और तब मालूम हो जायगा कि 'ईश्वर है'।

१३. गुरुदेवमें श्रद्धा और अपनेमें विश्वास। गुरुदेव कहते हैं कि कदाचित् मनुष्य कहेगा "अपनेमें विश्वास! अरे, मै अपनी दुर्बलतासे खूब परिचित हूँ, इसलिए अपने पर विश्वास नहीं कर सकता।" किंतु गुरुदेव उत्तर देते हैं, "तुम अपनेको नहीं जानते; तुम तो केवल अपने बाह्य आवरण मात्रको जानते हो, जिसके भीतर आत्माकी अपार और अजेय शक्ति छिपी पड़ी है; यह शक्ति कभी नष्ट नहीं हो सकती, न कभी अंतमें असफल ही हो सकती है।"



१४. बुद्धि अथवा आत्माके जगत्‌में किसी प्रकारका पक्षपात नहीं है। जो सत्यके दर्शन कर सकता है उसे अपने अधिकारसे सत्यकी प्राप्ति होती है। मनुष्यकी सत्यके प्राप्तिकी योग्यता तो उसके सत्यको देख सकनेकी शक्तिमें ही निहित है और प्रकाशके दर्शनका अधिकार तो उसके देख सकनेकी शक्तिही से उसे प्राप्त होता है।

१५. शिष्यने अपनेमें विश्वास प्राप्त कर लिया है — अपने निचले अंशमें नहीं, जिसकी दुर्बलताओं पर उसने विजय प्राप्त कर ली है, वरन् अपने उच्चात्मामे, जिसकी शक्तिको अब वह पहचानने लगा है।

१६. हमारे लिए उचित ही है कि हम अंधकार और प्रकाश में एक समान संतुष्ट रहें; यह संतोष उस श्रद्धासे प्राप्त होता है जो हमें उस महत्‌के प्रति है जिसके प्रकाशसे हम कभी विलग नहीं हो सकते, क्योंकि वह स्वयं हमाराही सच्चा स्वरूप है। इस समय यह हमारी श्रद्धा ही है, क्योंकि हमारे भीतर सदैव जलनेवाली ज्योतिके साक्षात् दर्शन हमको अभी नहीं हुए हैं।

१७. सच्चा भक्त अपनेसे बड़ोंके प्रति उन्मुख रहता है, उनसे उसे आध्यात्मिक बल, शक्ति और प्रेरणा मिलती है, और इस प्रकार वह दूसरों तक आशीर्वाद पहुँचानेका साधन बनता है।

卐

१८. जो आत्माके द्वारा आत्माको प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए यह श्रद्धा नितांत आवश्यक है—यह पूर्ण और अविचल विश्वास कि आत्मा उसके अंतस्तलमें स्थित है। ऐसे ही विश्वासको श्रद्धाके पवित्र नामसे भूषित किया जा सकता है।

१९. तर्कके द्वारा आत्माका ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। तुम्हारा अंतरात्मा ही इसका एक मात्र साक्षी है, और पूर्ण विश्वास साधन-पथके अभ्यासके लिए अनिवार्य है।

२० श्रद्धा आवश्यक है, क्योंकि विना श्रद्धाके मानव हार मान बैठेगा, साहस उसका साथ छोड़ देगा, मानव-धैर्य टूट जायगा, क्योंकि आत्माके दर्शनकी कठिनाइयाँ अनंत जान पड़ेंगी।

२१. 'आत्मा है' यह अडिग विश्वास ही इस पथके पथिक को निपट अंधकारमें भी उत्साहित करता रहेगा, उच्च जीवनके अनुभवसे पहिले आनेवाले निर्जन शून्यमें यही विश्वास उसे सहारा देगा।

२२. हममेंसे कुछ लोग यह जान सकते हैं कि गुरुदेवके समक्ष उपस्थित होनेका अनुभव कैसा अपूर्व है, उनके सामीप्यमें कैसा जान पड़ता है। वाणी और उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती, उनका अस्तित्वही पर्याप्त होता

है। और जब उनके सामीप्यसे हटकर हम बाह्य जगत्में जाते हैं, तब गुरुदेवके वातावरणका वैचित्र्य हमें जान पड़ता है। किन्तु, हमें अनुभव हो चुका है और उस अनुभवकी स्मृति हमको अक्षय शक्ति देती रहती है।

२३. "मै सत्, चित्, आनंद हूँ, मैं जीवन, प्रेम, और प्रकाश हूँ।" क्योंकि हम लोगोंका वास्तविक स्वभाव दिव्य है और उसे अनुभवगम्य करनेका अभ्यास हमें उसे प्रकट करनेमें सहायता देता है। पवित्र, विकाररहित, और शांत, वह हृदयमें प्रकाशित होनेवाले तारेके समान है, और वह तारा हमारा आत्मा ही है। हम अभी अडिग रीतिसे उस तारेमें स्थित नही हो पाते, किंतु हमारा दैनिक प्रयास इसी ओर होता रहता है।

२४. अपनी चेतनाकी गहराईके भीतरके अतिरिक्त और कहीं सत्की प्राप्ति नही हो सकती। वहीं पर सत्यका निवास है, वहीं शाश्वतका देश है, और जिसने शाश्वतको जान लिया है और उसमें स्थित है, उसीको शांति मिलती है।

२५. एक थिऑसोफिस्ट, एक ब्रह्मजिज्ञासु तो सभी धर्म-मत वालोंको समझनेका प्रयास करता है, वह किसीके मत-परिवर्तनकी चेष्टा नहीं करता, जो कुछ वह जानता है, उसे दूसरेको बतानेको प्रस्तुत रहता है और उस

प्रयासमें वह केवल अपने बंधुके विश्वासको और भी सुदृढ़ बनाना चाहता है; वह उसपर यह प्रकट करना चाहता है कि सभी धर्म-मतोंका मूलाधार एकही है।

२६. ईश्वरके स्वरूपके संबंधमें भिन्न दृष्टिकोण हानिकर तो नहीं, वरन् लाभदायकही हैं; क्योंकि प्रत्येक दृष्टिकोण महान् सत्यका एक ही पहलू प्रकट करता है और सभी दृष्टिकोणोंको जानकर ही हम भगवानके महान स्वरूपको थोड़ा बहुत समझ पायेंगे।

२७. ज्यों ज्यों भक्त भगवानके समीप आता जाता है, ज्यों ज्यों प्रकाशके दर्शन अधिक समीपसे होते जाते हैं, त्यों त्यों भक्त और भगवानमें एकात्मता आती जाती है, वे विलग नहीं रह जाते। अंतमें प्रेमका पूर्णत्व होने पर और ज्ञानके सर्वथा शुद्ध हो जाने पर, भक्त और भगवान बिल्कुल एक हो जाते हैं और 'तद्ब्रह्म तदस्मि' 'मैं भी भगवान ही हूँ' यह पुकार हृदयसे उठती है। जहाँ द्वैत था, वहाँ अद्वैतका प्रकाश हो जाता है।

२८. सभी आत्माओंका उद्गम तो ईश्वरही है, वही सबका पिता है, किसी धर्म विशेषके ही लोगोंके संबंधमे यह तथ्य लागू नहीं है। यदि यह एकत्वकी भावना आ जाय तो धर्म-परिवर्तनकी बात ही मिट जाय। कोई किसीको अपने धर्म-मतमें बरबस लानेका प्रयास ही न करे, वरन्



सभी एक दूसरेसे शिक्षा लेने लगें और भगवान्के भिन्न भिन्न रूपोंका दर्शन सहर्ष करने लगें ।

२९. शरीर कुछ भी कर रहा हो, मन किधर भी संलग्न हो, जीवात्मा नि तर भगवान्की उपासना करता रह सकता है; शिष्यके जीवनमें तो निरंतर ईश्वरोपासना और ईश्वर-चिंतन जारी रहता है, वह ध्यान तो कभी टूटता ही नहीं और जब आत्मा इस प्रकार ईश्वरोपासनामें संलग्न रहता है, शरीर और मन मानव-सेवा के कार्यमें तत्पर रहते हैं ।

३०, पूर्णत्वका आदर्श साधक अपनी शक्ति भर सुन्दर और संपूर्ण बनाता है, यद्यपि उसे इस बातका ज्ञान बराबर रहता है कि उसकी ऊँचीसे ऊँची कल्पना भी वास्तविकताकी छाया मात्र ही होती है ।

३१. 'किंतु हम सभी, निरावरण मुखसे भगवानका दर्शन करते हुए, मानों आरसीमें देखकर, उन्हीके समान होते जाते हैं ।' आरसीमें देखकर, क्योंकि मन तो आरसीके समान है, जिस पर प्रतिबिम्ब पड़ता है और आत्मा जो मनमें भगवानके प्रतिबिम्बको देखता है, उन्हीं के समान देदीप्यमान हो जाता है ।

卐

समाधान

नवम्बर

ग्यारहवाँ अध्याय

१. तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि जब नियमोंको समझ कर अपने निश्चित लक्ष्यकी पूर्तिमें उनका उपयोग किया जाता है, तभी स्थिरता आती है।

२. एक मौलिक सिद्धांत है सृष्टिमात्रकी एकताका। यदि मानव और ईश्वरको मूलतः भिन्न समझ लिया जाय तो उन दोनोंके बीच एक अलंघ्य खाई बन जाती है और तब ईश्वरके अस्तित्वसे मानवका सबंध एक ऐसी पहेली बन जाता है जिसका हल हमारे पास है ही नहीं।

३. एक ब्रह्मजिज्ञासु, एक थिऑसोफिस्ट यह जानता है कि समस्याओंका हल सिद्धांत और व्यावहारिकताके बुद्धिपूर्ण समन्वयही के द्वारा हो सकता है, यद्यपि वे अभी एक दूसरेके विरोधी जान पड़ते हैं। इसी प्रकार मानव-जातिका संपूर्ण अनुभव समाजके निर्माणमें उपयोगमें आ सकता है।

४. भावी मानव-जातिका मूल सिद्धांत होगा मानव-जाति



की एकता और जो राष्ट्र सबसे पहिले इस महान् कल्पनाको समझ लेगा और कार्यरूपमें परिणत करेगा, उसीका अनुगमन सारी मानव-जाति करेगी। जो इस एकताको आज पहचानते हैं और इसका प्रचार करना चाहते हैं, वे चाहे कुछ समयके लिए असफल होते जान पड़ें, पर उनकी असफलतामें ही अनिवार्य सफलताके अंकुर मौजूद हैं।

५. यदि घृणाके कंपन भूतकालमें चालू किये जा चुके हैं, तो हम अपने निश्चयके साथ उन्हें शांत करनेका प्रयास भी कर सकते हैं और वर्तमानकाल तथा भविष्यमें प्रेमके कम्पन चालू करके उनके परिणामोंको रोक सकते हैं।

६. भूतकालको मनुष्य नष्ट नहीं कर सकता, उस समयके कियेको मेट नहीं सकता, किंतु जो परिणाम अभी भविष्यमें होनेको हैं, उन्हें वह अवश्य बदल और पलट सकता है; वह ऐसे नवीन कारण उत्पन्न कर सकता है जिनसे वे बुरे परिणाम न होने पावें।

७. कामलोकमें मिथ्याके मायावीरूप डोलते फिरते हैं; जानकार मनुष्य उनके विरुद्ध सत्यके विचाररूप भेजता है, पवित्रता गंदगीको नष्ट कर देती है और करुणा स्वार्थपूर्ण लोलुपताको, ज्यों ज्यों मनुष्यका ज्ञान बढ़ता जाता है, उसका यह कार्य अधिक निश्चयपूर्ण और

प्रत्यक्ष होता जाता है, विचार लक्ष्यभेदी होता जाता है और उसमें संकल्प-शक्तिका वेग रहता है।

८. जिस प्रकार निस्पंद सरोवरमें चंद्रमा और तारे स्पष्ट-रूपसे प्रतिबिंबित होते हैं, किंतु जब सरोवरमें हवाके वेगसे लहरें उठती रहती हैं, तो प्रतिबिंब विघटित दिखायी देते हैं, उसी प्रकार मनको स्थिर, वासनाओंको शांत, और निचले मनकी वृत्तियोंको स्तब्ध कर देनेसे उच्च आत्माका प्रतिबिम्ब मन पर पड़ता है। शिष्य इसी प्रकार अपने गुरुदेवके विचारोंको प्रतिबिंबित कर सकता है।

९. दोनों पक्षोंकी भूलोंको देखो, कारणका कार्य समझो; पापकी निन्दा अवश्य करो, जो सत्पक्षमें हैं उनकी भी भूलों को अवश्य स्वीकार करो। दोनों पक्षोंकी भलाइयोंको भी देखो, दोनोंकी बुराइयोंको भी, और जहाँ तक तुमसे संभव हो, किस प्रकारकी शक्तियाँ कार्य कर रही हैं यह लोगोंको समझाओ। यह सब धैर्य और शांतिके साथ करो, असत्य पक्षका विरोध भी क्रोधोन्मत्त होकर मत करो।

१०. मनको हर प्रकारसे संतुलित रखो, दोनों पक्षोंकी दृष्टिसे देखनेकी चेष्टा करो और क्रोध तथा अति का यथाशक्ति परिहार करो। तुम्हें पापका पक्ष-समर्थन नहीं करना है और न धर्म और अधर्ममें मतिभ्रम, किंतु एक

ब्रह्मजिज्ञासुकी दृष्टिसे तुम्हें आसपासकी विरोध-भावनाको बढ़ाना न चाहिए; तुम्हें तो एक शांत और संतुलित भावना का केन्द्र बनना चाहिए जिससे घटनाओंके क्रम पर अच्छा प्रभाव पड़े।

११. तुम्हें इस प्रकार उत्तेजित न हो जाना चाहिए कि तुम दूसरे पक्षमें जो कुछ सत्य है उसे स्वीकार न कर सको। एक साधकको तो सद्बुद्धिसे निर्णय करना चाहिए, उत्तेजनासे नहीं। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि मानव-जातिकी प्रगतिके लिए दोनोंही पक्ष आवश्यक हैं।

१२. जब आंतरिक शांति बाहर प्रसारित होने लगती है तो वह समस्त स्वभावको ओतप्रोत कर देती है। शाति का हृदय निस्तब्धताका हृदय है, जहाँ गुप्त भगवानका निवास है। उस नीरव वाणीमें ही शक्तिका रहस्यपूर्ण शब्द उच्चरित हो सकता है जिसके उच्चारण मात्रसे बाह्य समस्त कंपन शांत हो जाते हैं और नीरव शांतिका राज्य हो जाता है।

१३ आध्यात्मिक पुरुषका एकान्तवासी होना आवश्यक नहीं है, दैवी जीवनसे एकात्म्य सांसारिक कर्त्तव्योंकी पूर्ति करते हुए भी प्राप्त किया जा सकता है; इस एकात्म्यके मार्गमें बाधाएँ बाह्य नहीं, हमारे भीतरकी ही हैं—यही भगवद्गीताकी मौलिक शिक्षा है।

卐

१४. योगका शाब्दिक अर्थ है ऐक्य, इसका अर्थ है ईश्वरीय नियमसे समन्वय, ईश्वरीय जीवनसे एकात्म्य, बहिर्मुखी शक्तियोंका दमन! इसे प्राप्त करनेके लिए उस संतुलन, उस समाधानका अभ्यास होना चाहिए जिसपर सुख और दुःख, राग और द्वेषका कोई प्रभावही न पड़े।

१५. जब तुम प्रत्येक बच्चेके प्रति वही भावना रखने लगो, जो स्वयं अपने बच्चेके प्रति, जब तुम प्रत्येक व्यक्तिकी वैसीही सहायता करनेको तत्पर हो जैसे अपने भाई या बहिनकी, तब समझो कि तुमने व्यक्तिगत भावनाओंको एक सार्वजनिक गुण बना लिया, तभी तुम्हारी समझमें आयेगा कि किस प्रकार प्रेम सभी सद्गुणोंका मूल है, और सभी पापोंका मूल उसकी विरोधिनी घृणा है जो विघटित करके नष्ट कर देती है।

१६. जब मनुष्यको सत्यका ज्ञान जीवनके संध्या-कालमें होता है, तो कभी कभी बड़ी निराशा होती है। 'मैं तो अब बहुत वृद्ध हूँ, अब क्या कर सकूँगा? यदि यही ज्ञान जवानीमें प्राप्त हुआ होता'!—ऐसी भावना होती है। किंतु साधन-पथ तो एक ही है, और जन्म-जन्मांतरका जीवन भी एक है, और उसी एक जीवनमें समस्त पथ पूरा करना है। फिर इससे क्या, कि पथका कौन अंश किसी एक शारीरिक जन्मके किस भागमें पूरा होता है?

★

१७. लहरोंके उत्थान और पतनके समान मानव-जीवन और मानव हृदयकी-भावनाओंमें भी उत्थान और पतन होता है। दुखके बाद सुख और सुखके बाद दुख उसी प्रकार अवश्यंभावी है जैसे जन्मके बाद मरण और मरणोपरांत फिर जन्म। यह एक काल्पनिक बात नहीं है, यह तो आध्यात्मिक जीवनमें सभी पहुँचे हुए साधकोंकी अनुभूति है।

१८. समाधानकी ओर पहिली सीढ़ी हम तब चढ़ते हैं जब हम यह समझ लेते हैं कि हमें अपने मनोदशाकी विशेष चिता न करनी चाहिए। यह बात कहनेमें बड़ी कठोर लगती है, पर है सत्य। हमारी आध्यात्मिक प्रगति और हमारी मनोदशामें कोई संबंध नहीं दीखता। जब हम भावोन्मत्त होकर आनंदमग्न रहते हैं, तो आवश्यक नहीं कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति हो रही हो, और न हमारे उदास जीवनके दिनोंसे हमारी अवनतिका ही कोई संबंध है।

१९. यदि तुम आनेवाले बोधिसत्त्वको पहिचानना चाहते हो तो अपनेमें नम्रता और सहनशीलताके गुणोंका अभ्यास बढ़ाओ और यही नहीं, उन सभी गुणोंको बढ़ाओ जो एक आध्यात्मिक पुरुषके स्वभावमें पाये जाते हैं—सबके प्रति स्नेह, चाहे वे बाह्य दृष्टिसे आकर्षक हों या अनाकर्षक, वह सहनशीलता जो मूर्खता और अज्ञानके प्रति

और भी अधिक सहनशील हो, वह हृदय जो दुःखी-के दुःखका अनुभव कर सके और सहायताकी आवश्यकता होने पर कुछ भी देनेमें न हिचके।

२०. बिना विरोधके प्रगति संभव नहीं, बिना विरोधके विकास होताही नहीं।

२१. जब हम दुख और सुखका महत्त्व समझ जाते हैं, तबदोनों मेंसे एक भी हमें बंधनमें नही डाल सकता, न वे हमें उद्विग्न कर सकते हैं। किसीसे भी एक न होकर ज्ञानी पुरुष सुख-दुख दोनोंको ही जैसे आता है वैसे सहर्ष स्वीकार करता है और दोनोंही के प्रयोजनको जानता है ।

२२. यदि कष्ट आते हैं, तो उन्हें ग्रहण करके उन्हें उपयोगमें लाते हैं, यदि सुख मिलता है तो उसे भी ग्रहण करके उपयोगमें लाते हैं । इस तरह सुख और दुख दोनों ही का स्वागत करते हुए जीवन व्यतात कर देते हैं; जो कुछ आवे उसीमें संतुष्ट, उस समय जो अनुपस्थित है उसकी लालसा नही रखते।

२३. गीताका मूलमंत्र है समत्व, मनुष्यके सभी देहोंका समन्वय, जिससे कि समस्त शरीर विश्वात्माके ही साथ एक स्वरसे झंकृत होने लगें ।



२४. सभी प्रकारकी वाञ्छनीय वस्तुओंके बीचमें रह कर उनके प्रति उदासीन रहना, संपत्ति, विपत्ति, सुख और दुख, कीर्ति और अपकीर्ति, दोनोंही दशामें एक ही समान संतुष्ट, शांत और सुस्थिर—यह जीवन गौरवशाली जीवन है, अत्यंत कठिन किंतु अत्यंत उच्च।

२५ समता, धीरता, मनकी शांति, समाधान—वह संतुलन जो इन सभी सद्गुणोंके अभ्याससे प्राप्त होता है। जब यह प्राप्त हो जाय तभी परीक्ष्यमाण शिष्यकी अवस्थाका ठीक-ठीक निर्वाह होता है।

२६. किसी ओर अति नहीं होनी चाहिए; न शरीरको व्यर्थ पीड़ा देना, क्योंकि उसे तो अपना साधन बनाना है, और न इस प्रकार उसके वशमें हो जाना कि शरीर ही आत्माका स्वामी बन बैठे।

२७. भगवानके प्रति एकाग्र भक्ति, बुद्धि और भावनाओंका संतुलित विकास, इसी मार्ग पर चलना है, यदि उच्च चेतना इसी जीवनमें जागृत करना है। हमे जीवनमे पवित्र, करुणापूर्ण और दयालु होना चाहिए; सभीमे आत्माका अस्तित्व पहचानना चाहिए, चाहे कोई रूपवान हो या कुरूप, उच्च हो या नीच।

२८. तुम्हें एकाग्रता सीखनी चाहिए, गुरुदेवके कार्यमें ऐसी



लगन होनी चाहिए कि कुछ भी चीज़ तुम्हें उससे विचलित न कर सके।

२९. जिस प्रकार दिशा-दर्शक यंत्रकी सुई हिलाने-डुलाने पर भी उत्तरी ध्रुवकी ओरही निर्देश करती है, उसी प्रकार तुम्हारी संकल्प-शक्ति भी सदा मानवके पूर्णत्वके दैवी-संकल्पके ही अनुकूल रहनी चाहिए—इसी पूर्णत्वकी ओर तुम्हारा समस्त प्रयास होना चाहिए।

३०. यह हम कैसे जानें कि हम अहंकारसे प्रेरित हो रहे हैं या कर्तव्य-बुद्धिसे ? हम पथभ्रष्ट हो रहे हैं, यह हम कैसे जानें ? ऐसी कठिनाईमें मैं तो यही एक साधन जानती हूँ कि शांतिसे अपने हृदयमें चेतनाको ले जाओ, अपनी सारी वासनाओंको अलग करो, थोड़ी देरके लिए अपनेको अपने अहंकारके भावसे दूर रखो और फिर प्रस्तुत प्रश्न पर शुद्ध दृष्टिसे विचार करो और गुरुदेवसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हारी सहायता करें।

★

मुमुक्षुत्व

दिसम्बर — बारहवाँ अध्याय

१. समस्त धर्ममतोंका उद्गम एकही स्थानमें है। सिद्ध महापुरुषों, मोक्षप्राप्त आत्माओंका एक समूह है, जो सृष्टिके आध्यात्मिक संरक्षक हैं। उन्हींके पास दैवी-ज्ञानका भण्डार है और समय-समय पर राष्ट्रों और मानवजातिकी आवश्यकताकी पूर्ति वेही करते रहते हैं।

२. जब मनुष्यके अंतस्तलमें स्वयं भगवान स्थित हैं, तो फिर उसे अंदर जानेसे कौन रोक सकता है? कौन कह सकता है कि तुम भगवानके साक्षात् दर्शन नहीं कर सकते?

३. तब वह जान जाता है कि ईश्वर उसके अंदर ही छिपे हैं, और उसके भीतरके देवताको क्षणिक वस्तुएँ संतोष नहीं दे सकतीं; केवल उस एकसे एकात्म्यही उसकी लाल-साओंको शांत कर सकता है। तब धीरे-धीरे उसके अंदर ईश्वरसे एकात्म्य प्राप्त करनेका संकल्प दृढ़ होता जाता है।

४. विलगताकी दीवारोंको तोड़ गिरानेका निश्चय तुम्हारे भीतर उच्चात्माके उदयका चिन्ह है और इस विलगताको नष्ट कर देनेमें सफलता उच्चात्माकी प्राप्तिकी सूचक है।

卐

५. जैसे हम अब तक ऊँचे चढ़ते आये हैं, वैसेही हम और भी ऊँचे चढ़ेंगे। जैसे हम रज-कणसे उठकर यहाँ तक पहुँचे हैं, वैसेही हम गगनविहारी तारों तक पहुँचेगे, क्योंकि हमारे अंतस्तलमें स्थित ईश्वरीय शक्ति किसी प्रकारकी देश और कालकी सीमा नहीं स्वीकार करती। भविष्यमें हमारा विकास हमारे उस विकाससे, जिससे हम आजकी अवस्थाको पहुँचे हैं, करोड़ों गुना अधिक गौरवशाली होगा।

६. जब आत्माकी प्राप्ति हो जाती है, जब मनुष्य यह थोड़ा भी अनुभव करने लगता है कि ईश्वरके साथ उसका एकत्व है, जब उसके हृदयके बंधन सचमुच टूटने लगते हैं, तभी मनुष्य मोक्षका आकांक्षी होकर लोकहितमें अनुरक्त होता है।

७. मोक्षका यह अर्थ नहीं है कि फिर मृत्यु-लोकको लौटकर आते ही नहीं। इसका अर्थ यह है कि तुम फिर पुनर्जन्मके लिए बाध्य नहीं हो। तुम अमर हो गये और अब अपना मार्ग स्वयं निश्चित कर सकते हो। इसका यह भी अर्थ है कि यदि संसारको तुम्हारी अवश्यकता है, तो तुम संसारमें जीवन-यापन करनेको प्रस्तुत हो। जहाँ कहीं संसारको तुम्हारी आवश्यकता है, वहीं जानेको तुम प्रस्तुत हो।

८. एक दिव्य जीवन, बीज रूपमें मानवको प्राप्त होता है; बीज



पुनर्जन्म द्वारा फलता-फूलता है, आत्माकी छिपी शक्तियाँ प्रकट हों, एवं मानव ईश्वर-पद प्राप्त करे—यही विकासका रहस्य है।

९. हमारी सहायताके लिए ये जीवन-मुक्त महापुरुष शरीरका बोझ धारण कर हमारे मध्यमें रहते हैं। अपनी वाणीसे वे हमारी अंतर्बुद्धिको जागृत करते हैं, धर्मका उपदेश देकर वे ज्योतिकी ओर अग्रसर होनेकी हमारी गतिको तीव्र कर देते हैं।

१०. जीवन्मुक्त महापुरुषके पास सब कुछ है और जो कुछ उनका है वह मानव मात्रका है। वे पूर्णत्व-प्राप्त सिद्ध पुरुष है—उनके साथ और लोग भी अपने पूर्णत्वका अनुभव करते हैं। वे सामर्थ्यवान् हैं और उनकी सामर्थ्यसे और लोग भी सशक्त हैं। वे उच्चपद तक अपने प्रयाससे इसी लिए पहुँचे हैं कि वे अपनेसे नीचेके लोगों पर आशीर्वादकी वर्षा कर सकें और उन्हें जीवन-दान देनेके लिए ही वे जीवित हैं। अपनी उन्नतिके साथ वे सारी सृष्टिको ऊँचे उठाते हैं; उन्होंने इस पथ पर भ्रमण किया है, इस लिए मानव मात्रके लिए यह पथ सरल हो गया है।

११. वह जागृत शक्ति सभी वस्तुओंको नवजीवन दान देती है। उस शक्तिको किसी भी व्यक्तिमें प्रकट और क्रियाशील करनेकी एक ही विधि है: वह व्यक्ति अपने आत्माके

卐 35554
Accession No.
Shantarakshita Library
Tibetan Institute-Sarnath

कपाट खोल दे और इस शक्तिका प्रवेश होने दे। वह सर्वव्यापी भी विना जीवकी अपनी अनुमतिके बरबस उसके अंदर प्रवेश नहीं कर सकता। मानव संकल्पशक्ति, मानव और ईश्वर दोनोंका विरोध कर सकती है और विकासका नियम ही यह है कि स्वेच्छासे जीव ईश्वरीय कार्यके साथ सहयोग करे; उसके साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं की जाती, वह दबाकर वशमें नहीं किया जाता।

१२. अपने संकल्पसे हृदयके कपाट खोल दो और दैवी जीवन आत्माको ओत-प्रोत कर देगा। जब तक कपाट बंद हैं, उसकी भीनी भीनी सुगंधही मिल सकती है। यह सुगंधही कदाचित् कपाट खुलवा दे, जहाँ ज़बर्दस्तीसे वे कपाट खोले न जायँगे।

१३. जितना ही तुम प्रेम करते हो और सेवामें संलग्न रहते हो, उतना ही दैवी-जीवन अपने प्रकटीकरणके लिए तुम्हें एक नलिका बनाता है। जब तुम ऊँचे लोकोंमें जा सकोगे, जब तुम्हारी चेतना विस्तृत हो जायगी, तब तुम्हें भी वह अनुभव होगा जिसके लिए समस्त संत लोग लालायित रहते हैं, जिसे सिद्ध पुरुष प्राप्त करते हैं—तुम्हें दैवी जीवनका अनुभव अपने ही जीवनमें होगा और इस प्रकार तुम ईश्वरके आनन्द-साम्राज्यमें प्रवेश करोगे।

१४. जब मानवकी समस्त शक्तियाँ उसी प्रकार सत्‌की ओर




उन्मुख हो जाती हैं, जैसे दिशादर्शक यंत्रकी सुई उत्तर दिशाकी ओर, तब साधारण सदाचारका अतिक्रमण हो जाता है। मानवके भीतर स्थित देवत्व विश्वकल्याण की कामना करने लगता है। फिर किसी प्रकारका संघर्ष शेष रह नहीं जाता, विजय प्राप्त हो चुकती है। जीव अपनी उच्चावस्थाको प्राप्त कर चुकता है, वह बोधिसत्व हो जाता है, जन्म और मरणका वह स्वयं स्वामी हो जाता है।

१५. हिन्दू और बौद्ध इसे मुमुक्षा—मोक्षकी आकांक्षा कहते हैं। गुरुदेवने अपने शब्दोंमें इसे 'परमात्मासे एकात्म्य' कहा है। परमात्मा प्रेम स्वरूप है, इस लिए वह मानव मात्रके प्रति प्रेमके रूपमें ही इस आकांक्षाको प्रकट करता है।

१६. रीति-रिवाज, परम्पराकी परिपाटी तथा मानवके अविचारने जो बाधाएँ खड़ी कर दी हैं, तुम्हें उन पर विजय प्राप्त हो। यदि षट्सम्पत्ति आदि गुणोंसे अलंकृत होकर तुम द्वार खटखटाओगे तो कपाट अवश्य खुल जायँगे और तुम्हें गुरुदेवके दर्शन होंगे; तभी तुम उस सेवाको जान सकोगे जिसमें पूर्ण स्वातंत्र्य है, और उस आनंदका अनुभव करोगे, जो गुरुदेवके सामीप्यसे प्राप्त होता है।

१७. मोक्ष प्राप्तिका अर्थ है कि तुम किसी बाह्य बंधनसे बाध्य

नहीं हो; केवल भगवानकी इच्छाही तुमको प्रेरित करती और पथ दिखाती है ।

१८. जब किसी धर्म-मतका लोप होता है, तब उसके संस्थापक महापुरुषका पूर्ण छुटकारा हो जाता है । यही नियम है । जब तक उनके द्वारा स्थापित धर्म संसारमें बना है, वे मानव जातिको छोड़कर जा नहीं सकते ।

१९. करुणा और शक्ति, आनंद और पूर्ण शांति, वह शांति जिसे कुछ भी विचलित नहीं कर सकता—ऐसी है वह आदर्श अवस्था जो एक दिन हम-सबकी होगी ।

२०. ज्यों ज्यों यह ज्ञान और प्रेमकी पवित्र अग्नि—जो मानवमें स्थित दैवी शक्ति है—अधिकाधिक प्रकट होती जाती है और समस्त बंधनोंको भस्म करती तथा सब शक्तियोंको शुद्ध करके अपने समान बनाती जाती है, आध्यात्मिक शक्ति, आत्म बलका भी प्रवाह होता जाता है ।

२१. जब यह ज्ञान और प्रेमसे प्रज्वलित जीव मानव जगत्में प्रकट होता है, तो वह अपने प्रकट होने ही से एक शक्तिको मुक्त रूपसे प्रवाहित करता है और समस्त नीची भावनाओंको भस्म कर देता है, और इसके फल-स्वरूप आध्यात्मिक शक्तिका प्रवाह खुल जाता है जो अब तक बंधनोंके कारण निष्क्रिय था, और अब उस शक्ति द्वारा लोकहित होने लगता है ।



२२. प्रकाशके साथ-साथ स्वातंत्र्य भी प्राप्त होता है और दिव्यरूप-प्राप्त मानवके आनंद तथा प्रसन्नताका प्रसार होता है। अब दैवी प्रकाशने उसे आलोकित कर दिया है, वह ज्ञानी हो गया है। ज्ञानीके लिए दुःख नामकी कोई वस्तु नहीं है; ईश्वरीय ज्ञानसे आलोकित पुरुषके लिए दुःख सदाके लिए नष्ट हो जाता है।

२३ जब जीव सत्यको जान जाता है, तो संशय और संदेह उसके लिए असंभव हो जाते है। ज्ञानका लाभ अब जीवनका ही विस्तार जान पड़ता है और जीव चारो ओर से ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ग्रहणशील हो जाता है।

२४. मन और शरीर तो परिश्रम करते हैं, जीवात्मा साक्षीकी भाँति देखता रहता है और जब परिश्रम पूरा हो जाता है तो ड्योढ़ी पार करके बाहरी चौकसे वह मंदिरके अंदर अपने इष्टदेवके समक्ष पहुँच जाता है।

२५. मंदिरके भीतर पहुँचकर वह संसारके अन्य सभी बंधनोंसे मुक्त हो जाता है, केवल संसारके उपकारका एवं उसकी सेवाका बंधन मात्र शेष रह जाता है; मानवजातिके कल्याणकी आकाक्षाके अतिरिक्त उसकी कोई आकांक्षा नही रह जाती; उसे कुछ भी अब आकर्षित नही करता, क्योंकि उसने इष्ट देवके दर्शन कर लिये और उनकी ज्योतिके सामने और सभी ज्योतियाँ धुंधली दीख पड़ती हैं।

२६. जीवात्मा निरंतर उद्योगमें लगा रहता है, अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होने की ही उसकी एक मात्र चेष्टा रहती है, वह अपने अंदर किसी प्रकारकी भी ऐसी बाधा या विघ्न नहीं रहने देना चाहता जो उन मुक्त महापुरुषोंके प्रकाशको हृदयमें प्रवेश करनेसे रोके।

२७. मुक्ति पद-प्राप्तिका अर्थ है, अपनी और दुर्बलसे-दुर्बल प्राणीकी एकताका अनुभव, और सबलसे सबल प्राणीके साथ भी एकात्म्य, पापीका पाप और पुण्यात्माका पुण्य, दोनों ही से एकात्म्य, अपराधीके पतन और संतकी पवित्रता दोनों ही से अपनी एकताका अनुभव।

२८. मानवके जीवनमें एक समय आता है जब उसकी दुर्बलताएँ दूर हो जाती हैं, वह अपनी नीची वासनाओं और वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेता है और उसमें वह करुणा आ जाती है जो कभी विचलित नहीं होती, वह पवित्रता आ जाती है जो कभी कलंकित नहीं होती, वह ज्ञान आ जाता है जो असीम है और वह आध्यात्मिकता आ जाती है जिसका प्रभाव सभी पर पड़ता है—और ये सब चिह्न उस शिष्य के हैं जो मोक्षकी ड्योढ़ी पर पहुँच चुका है।

२९. मुक्त पुरुष वे सब कार्य पूर्णताके साथ करते हैं, जो अन्य लोग थोड़ा बहुत कर पाते हैं। ये उद्धारकर्ता कहलाते हैं और उनका यह लक्षण संपूर्ण होता है। वे अपनेको



हमारे बदले बलिदान करके हमारा त्राण नहीं करते, वरन् अपनी जीवनी-शक्ति हमें भी देकर हमारा उद्धार करते हैं। वे ज्ञानस्वरूप हैं और उनके ज्ञानसे से समस्त मानव अधिक ज्ञानपूर्ण होते जाते हैं, क्योंकि उनका जीवन मानव मात्रमें प्रवाहित होता है और उनकी धमनियाँ और हृदय आंदोलित करता है।

३०. जब किसी महापुरुषको निर्वाण प्राप्त होता है, तो कोई भी दुर्बलसे दुर्बल, पतितसे पतित, अज्ञानीसे अज्ञानी, और पापीसे पापी व्यक्ति भी बिना प्रकाशके अधिक समीप पहुँचे नहीं रहता।

३१. अवश्यही संसारमें कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो दैवी जीवनसे सजीव होकर मानव-कल्याणका इच्छुक न हो जाय। जब इस जीवनका अनुभव तनिक देरके लिए भी हो जाता है, तो हृदयमें एक पुलक उठती है, जो समय पाकर मुमुक्षाका रूप धारण कर लेगी, क्योंकि यही अंकुर है जो एक दिन सिद्ध पुरुषको जन्म देगा, जिसके द्वारा संसारका, मानव-जातिका कल्याण होगा।

Acc 050554
Shantarakshita Library
Tibetan ... Sarnath

卐